किशोर भारती / अक्तूबर 2013

शिक्षा में पीपीपी

सार्वजनिक–निजी 'साझेदारी' या नवउदारवादी लूट

– डॉ. अनिल सद्गोपाल

इल्म बड़ी दौलत है।

इल्म बड़ी दौलत है।
तू भी स्कूल खोल।
इल्म पढ़ा।
फीस लगा।
दौलत कमा।
फीस ही फीस।
पढ़ाई के बीस।
बस के तीस।
यूनिफार्म के चालीस।
खेलों के अलग।
वेरायटी प्रोग्राम के अलग।
पिकनिक के अलग।
लोगों के चीखने पर ना जा।
दौलत कमा।
उससे और स्कूल खोल।
उनसे और दौलत कमा।
कमाए जा, कमाए जा।
अभी तो तू जवान है।
यह सिलसिला जारी है।
जब तक गंगा-जमना है।
पढ़ाई बड़ी अच्छी है।
पढ़।
बहीखाता पढ़।
टेलीफोन डाइरेक्टरी पढ़।
बैंक-असिस्मेंट पढ़।
ज़रुरते-रिश्ता के इश्तेहार पढ़।
और कुछ मत पढ़।
मीर और गालिब मत पढ़।
इक़बाल और फैज़ मत पढ़।
इब्ने इंशा को भी मत पढ़।
वरना तेरा बेड़ा पार ना होगा।
और हममें से कोई
नताएज का जिम्मेदार न होगा।

– **इब्ने इंशा**
एक पाकिस्तानी कवि

शिक्षा में पीपीपी

सार्वजनिक–निजी ‘साझेदारी’ या नवउदारवादी लूट?

डॉ. अनिल सद्‌गोपाल

से

श्री दीपेंद्र बघेल एवं सुश्री शशि मौर्य द्वारा लिया गया

साक्षात्कार

किशोर भारती

अक्तूबर 2013

शिक्षा में पीपीपी
सार्वजनिक–निजी 'साझेदारी' या नवउदारवादी लूट?

शिक्षा विमर्श, जयपुर (राज.) के
जनवरी–अप्रैल 2008, पृ. 68–96, से साभार

डॉ. अनिल सद्गोपाल का साक्षात्कार
साक्षात्कारकर्ता : श्री दीपेंद्र बघेल एवं सुश्री शशि मौर्य

आवरण : कनक शशि

प्रथम संस्करण : अक्तूबर 2013 (2,000 प्रतियां)

प्रकाशन एवं वितरण : किशोर भारती
ई–8/29, सहकार नगर,
भोपाल 462 039, म. प्र.

मुद्रण : आर के सेक्यू प्राइवेट लिमिटेड
प्लॉट नं. 15, सेक्टर जी,
इंडस्ट्रीयल एरिया, जे.के. रोड,
भोपाल 462 021, म. प्र.

सहयोग राशि : बीस रुपए मात्र

अनुक्रमणिका

––––

साक्षात्कारकर्ता

श्री दीपेंद्र बघेल भोपाल में दर्शन, साहित्य, राजनीति, सांप्रदायिकता एवं अन्य सामाजिक सरोकारों पर चिंतन, अध्ययन और लेखन करते हैं। इसके अलावा पत्रकारिता एवं संचार के क्षेत्र में अध्यापन उनका व्यावसायिक पेशा है।

सुश्री शशि मौर्य नारीवादी आंदोलन से जुड़ी हुई हैं। महिला समाख्या, सहारनपुर (उत्तर प्रदेश) में उन्होंने महिला–विरुद्ध हिंसा पर काम करते हुए गांवों में नारी अदालतें स्थापित करवाईं। बुंदेलखंड क्षेत्र में महिला हिंसा के मुद्दे पर वहां के स्थानीय समूहों के साथ जुड़कर सघन रूप से कार्य किया। विगत कुछ बरसों से भोपाल में महिला–विरुद्ध हिंसा पर शोध, अध्ययन और लेखन कर रही हैं।

भूमिका

यह पुस्तिका सार्वजनिक–निजी 'साझेदारी' (पब्लिक–प्राइवेट पार्टनरशिप यानी पीपीपी) की शिक्षा व्यवस्था में वैश्वीकरण के बाद की भूमिका को उजागर करने और उसके विरुद्ध जनचेतना खड़ी करने के लिए पेश की जा रही है। पीपीपी के द्वारा शिक्षा व्यवस्था पर किए जा रहे हमलों को समझने–समझाने की कोशिश लगभग छह साल पहले शुरू की गई थी। यह वह दौर था जब प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह ने 13 सितंबर 2007 को 11वीं पंचवर्षीय योजना के संदर्भ में आयोजित योजना आयोग की बैठक की अध्यक्षता करते हुए एलान कर दिया था कि सभी शैक्षिक स्तरों पर – प्राथमिक शिक्षा से लेकर उच्च व तकनीकी शिक्षा तक – तमाम भावी योजनाओं में पीपीपी की निर्णायक भूमिका रहेगी। किसी भी शैक्षिक आंदोलन के लिए इस एलान को नजरंदाज करना एक ऐतिहासिक भूल होगी, यह जानकर पीपीपी के इतिहास, राजनीतिक अर्थशास्त्र और आजादी के बाद 'राज्य'–पूंजी के बदलते रिश्तों का अध्ययन किया। इस कवायद से जो सीखा वह एक विस्तृत साक्षात्कार के रूप में प्रकाशित हुआ (शिक्षा विमर्श, जनवरी–अप्रैल 2008, पृ. 68–96, जयपुर, राज.)। इसी साक्षात्कार को व्यापक वितरण के लिए कुछ हालिया सामग्री के साथ 'शिक्षा विमर्श' पत्रिका से साभार प्रकाशित किया जा रहा है।

आज नवउदारवादी दौर में पीपीपी सरकार के हाथ में शिक्षा के निजीकरण और बाजारीकरण की रफ्तार तेज करने यानी शिक्षा को बिकाऊ माल व मुनाफे का जरिया बनाने का महामंत्र बन गया है। इसके नाम पर भारतीय 'राज्य' सार्वजनिक धन को तरह–तरह की तरकीबों, फार्मूलों और बहानों के जरिए कारपोरेट घरानों, एनजीओ और धार्मिक संगठनों को शिक्षा का धंधा चलाने व बेलगाम मुनाफा कमाने के लिए सौंप रहा है। इसका हालिया व बेहद खतरनाक उदाहरण बृहन्मुंबई महानगरपालिका (मनपा) द्वारा 23 जनवरी 2013 को उसके 1,174 स्कूलों को पीपीपी के नाम पर निजी हाथों में 'नीलाम' करने के इरादे से किया गया फैसला है। मनपा ने पीपीपी के पांच मॉडल पेश किए हैं जिनका लब्बोलबाब विभिन्न तरीकों से शुरू करके अंततः स्कूलों और उनकी बेशकीमती जमीनों को निजी हाथों में देना है। महाराष्ट्र के अन्य शहरों और जिला परिषदों में भी मनपा की तर्ज पर सुगबुगाहट शुरू हो गई है। पुणे नगरनिगम ने 48 बालवाड़ियों को एक प्राइवेट कंपनी को दे दिया है। हाल में उत्तराखंड सरकार ने अपने 2,200 और दिल्ली के दक्षिण क्षेत्र के नगरनिगम ने अपने 50 स्कूलों का पीपीपी के जरिए निजीकरण करने का फैसला ले लिया है।

पीपीपी की नीतिगत पृष्ठभूमि

शिक्षा में पीपीपी यूं ही एक महामंत्र नहीं बन गया है। 'राज्य' ने राष्ट्रीय शिक्षा नीति –1986 (1992 में संशोधित) से ही इसके बीज बोने शुरू कर दिए थे। इस दिशा में संसद द्वारा पारित इस नीति में चार महत्वपूर्ण फैसले लिए गए। **पहला**, सब बच्चों को एक साझी (या समान) स्कूल व्यवस्था के जरिए शिक्षित नहीं किया जाएगा। लगभग आधे बच्चों को स्कूल व्यवस्था के बाहर सांयकालीन औपचारिकेतर (नॉन–फ़ार्मल) 'शिक्षा' केंद्रों के जरिए साक्षर (शिक्षित नहीं) बनाया जाएगा। साथ में मुट्ठीभर बच्चों को हर जिले में चयनित करके ऊंचे दर्जे के नवोदय विद्यालयों में शिक्षित किया जाएगा। इसतरह शुरूआत हुई समानांतर परतोंवाली एक बहुपरती स्कूल व्यवस्था की जिसमें निचली परतें वंचित तबकों व जातियों को महज साक्षर बनाने के लिए आरक्षित कर दी गईं। **दूसरा** फैसला, औपचारिकेतर शिक्षा केंद्रों में नियमित शिक्षकों की जगह अर्हता–विहीन, प्रशिक्षण–विहीन और वेतनमान–विहीन निर्देशकों को नियुक्त किया जाएगा। इन दोनों फैसलों से स्कूल व्यवस्था की गुणवत्ता गिराने और भेदभावपूर्ण शिक्षा देने की नीति की शुरूआत हो गई। **तीसरा** फैसला उच्च शिक्षा को लेकर था। कुछ चयनित कालेजों को स्वायत्त कालेज घोषित किया जाएगा जिन्हें शैक्षिक नवाचार के नाम पर बढ़ते क्रम में कम वेतन पर ठेकेनुमा शिक्षक नियुक्त करने और फीसें बढ़ाने की छूट दे दी गई। इस प्रकार सरकारी कालेजों के निजीकरण का सूत्रपात हुआ। **चौथा** फैसला, कालेजों और विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों व शिक्षकों के लोकतांत्रिक संगठनों और उनकी राजनीतिक चेतना पर अंकुश लगाने का था ताकि उच्च शिक्षा के निजीकरण व बाजारीकरण की नीति के विरोध को कुंद किया जा सके।

सन् 1991 में भारतीय अर्थव्यवस्था के दरवाजे वैश्वीकरण के नाम पर दुनिया की पूंजी और बाजार द्वारा बेलगाम लूट के लिए खोल दिए गए। इसके साथ ही विश्व बैंक व अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष ने संरचनात्मक समायोजन की शर्त थोप दी जिसके अनुसार भारत सरकार के लिए जरूरी हो गया कि वह साल–दर–साल शिक्षा, स्वास्थ्य और सामाजिक कल्याण के कार्यक्रमों पर खर्च घटाती जाए। खर्च घटाने के लिए 1986 की शिक्षा नीति का सहारा लिया गया। सरकारी स्कूलों की अधोसंरचनात्मक (शिक्षक–संबंधी मानदंडों समेत) सुविधाओं में कटौती करते हुए उनको कई परतों में बांट दिया गया – हर सामाजिक तबके के लिए एक अलग परत। नियमित शिक्षकों की जगह अर्हता–विहीन,

प्रशिक्षण–विहीन और वेतनमान–विहीन पैरा–टीचर नियुक्त करने की नीति लागू की गई। एक कमरे में एक साथ कई कक्षाओं का पाठ्यक्रम एक ही शिक्षक द्वारा पढ़ाने का 'चमत्कार' भी किया गया। स्कूल व्यवस्था को बरबाद करने के खिलाफ न तो संसद में और न ही विधानसभाओं में कोई कारगर आवाज उठाई गई चूंकि इन स्कूलों में सांसदों, विधायकों, अफसरों, कारोबारियों और पेशेवर तबके के बच्चे नहीं पढ़ते थे। 1990 के दशक के दौरान विश्व बैंक द्वारा प्रायोजित जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम (डीपीईपी) और सन् 2000 से शुरू हुए सर्व शिक्षा अभियान की बदौलत सरकारी स्कूल व्यवस्था की बदहाली इतनी तेजी से बढ़ी कि उसमें केवल दलित, आदिवासी, अति–पिछड़े वर्ग व मुस्लिम बच्चे ही बच गए और इन तबकों में से भी लड़कियां ज्यादा संख्या में। खुद सरकार ने नवउदारवादी नीति के बल पर सरकारी स्कूल व्यवस्था की विश्वसनीयता मिट्टी में मिलाकर निजी स्कूलों के लिए एक विशाल बाजार खोल दिया।

इसी तर्ज पर उच्च शिक्षा की गुणवत्ता गिराने के लिए भी नवउदारवादी नीतियों को लागू किया गया। सन् 2000 के बाद विभिन्न राज्य सरकारों ने अपने विश्वविद्यालयों व कालेजों के बजट में बढ़ते क्रम में कटौती शुरू कर दी। इस तरह उच्च शैक्षिक संस्थानों के सामने केवल एक विकल्प रह गया – शिक्षकों के मानदंडों व उनकी संख्या और अन्य अधोसंरचनात्मक सुविधाओं में कटौती करने के साथ–साथ फीस पर आधारित स्व–वित्तपोषित (सेल्फ़–फ़ायनेंसिंग) कोर्स शुरू करके खुद पैसा कमाओ। उच्च शैक्षिक संस्थान इस विकल्प को अपनाने के लिए मजबूर हुए – शिक्षकों के पद भरना बंद किया, केवल तदर्थ या अतिथि शिक्षक नियुक्त किए, सुविधाएं कम कीं और बाजारोन्मुख स्व–वित्तपोषित कोर्स शुरू किए। यानी सैकड़ों विश्वविद्यालयों व हजारों कालेजों को एक ओर घटिया शिक्षा देने और दूसरी ओर पैसा बनाने की मशीन में तब्दील कर दिया। बाजार के नजरिए पर आधारित शिक्षा का मकसद कुशल लेकिन गुलाम कामगार तैयार करने तक सिमट जाता है और लोकतांत्रिक देश के लिए नागरिक व समाज के लिए बेहतर इंसान बनाने का मकसद हाशिए पर चला जाता है। इस तरह महज एक दशक में नवउदारवादी नीति लागू करके उच्च शिक्षा को बरबाद करने और उसको वैश्विक बाजार के लिए खोलने के विश्व व्यापार संगठन–गैट्स के एजेंडे के लिए उपजाऊ जमीन तैयार कर दी।

पीपीपी बनाम लोकतंत्र

इस नवउदारवादी हमले की सफलता के लिए जरूरी था कि इसके खिलाफ उठनेवाली हर आवाज को दबाया जाए। पूंजी के पक्ष में 'राज्य' ने एक चार–सूत्री योजना बनाई। इसका **पहला** सूत्र था भारत के अग्रणी बुद्धिजीवियों को नवउदारवाद के एजेंडे में समाहित करना ताकि जनपक्षी ऐतिहासिक विमर्श न पनप सके। इसके तहत फ़ैकल्टी का अंतर्राष्ट्रीय आदान–प्रदान, विश्वविद्यालयों के जरिए अंतर्राष्ट्रीय परियोजनाएं, सेमिनार व सम्मेलन और ऊंची सलाहकार फीसें जैसे हथियार अपनाए गए। **दूसरे** सूत्र के तहत स्कूली स्तर पर बड़ी तादाद में पैरा–टीचरों या अतिथि शिक्षकों की नियुक्ति की ताकि सारा शिक्षक आंदोलन विलयन–वेतनमान के अर्थवाद के दायरे में सीमित हो जाए और शिक्षा व्यवस्था में बदलाव की नवउदारवाद–विरोधी लड़ाई से भटक जाए। **तीसरे** सूत्र का तकाजा था कि विश्वविद्यालयों व कालेजों में निर्णय प्रक्रिया के लिए कायम विभिन्न तंत्रों के लोकतांत्रिक तौर–तरीकों को कमजोर या नष्ट किया जाए। इसी के साथ–साथ पूर्व के मुकाबले स्कूली व उच्च शिक्षा के प्रबंधन व निर्णय प्रक्रिया का केंद्रीकरण और नौकरशाहीकरण और बढ़ाया जाए। इसका हालिया उदाहरण दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रशासन द्वारा सेमेस्टरीकरण व चार–साला स्नातक कार्यक्रम (एफ़वाईयूपी) थोपने के लिए निर्णय प्रक्रिया के सभी लोकतांत्रिक तंत्रों को हाशिए पर ढकेलना है। ऊपर से तुर्रा यह कि जनविरोध होने पर संस्थान की स्वायत्तता की दुहाई देकर स्वायत्तता को लोकतंत्र के खिलाफ खड़ा किया जाता है। **चौथा** सूत्र, विश्वविद्यालय व कालेजों में शिक्षक संगठनों और छात्र व कर्मचारी यूनियनों पर पाबंदी लगाकर उन्हें निष्प्रभावी बना देना ताकि पीपीपी व अन्य नवउदारवादी नीतियों के खिलाफ आवाज उठ ही न सके। अभी हाल में दिल्ली विश्वविद्यालय, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, जम्मू विश्वविद्यालय, नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ़ फ़ैशन टेक्नॉलॉजी के कई परिसरों और इंग्लिश एंड फ़ॉरिन लैंग्वेजस यूनिवर्सिटी (हैदराबाद) के छात्र संगठनों पर पुलिसिया अत्याचार व भाड़े के गुंडों से हमले करवाए गए हैं। इससे साफ हो जाना चाहिए कि पीपीपी जैसी नवउदारवादी नीतियों को संविधान व लोकतंत्र को नष्ट किए बगैर लागू करना मुमकिन ही नहीं है या यूं कहें कि नवउदारवाद का मकसद ही लोकतंत्र को नष्ट करके राजनीति, समाज व जीवन के हर पहलू पर वैश्विक पूंजी का वर्चस्व कायम करना है। इसीलिए पीपीपी के खिलाफ संघर्ष हर हाल नवउदारवाद के खिलाफ भी होगा।■

शिक्षा में पीपीपी के नीति निर्माण के इतिहास पर एक नजर

- **सन् 1998–99** – भाजपा–राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (एनडीए) के घोषणापत्र में शिक्षा में पीपीपी की पैरवी – पहला राजनीतिक जिक्र।
- **जनवरी 2002** – प्रधानमंत्री अटलबिहारी वाजपेयी के कार्यालय में पीपीपी पर एक समूह का गठन।
- **सितंबर 2003** – योजना आयोग में दो उप–समूहों का गठन – एक सामाजिक कार्यक्रमों पर और दूसरा अधोसंरचना पर।
- **नवंबर 2004** – संयुक्त प्रगतिशील संगठन (यूपीए) के कार्यकाल में एनडीए सरकार द्वारा गठित उप–समूहों की रपटें प्राप्त व स्वीकृत।
- **दिसंबर 2006** – राष्ट्रीय विकास परिषद् द्वारा 11वीं पंचवर्षीय योजना (2007–12) में, स्वीकृत जिसकी शिक्षा की योजना को 'पीपीपी योजना' के नाम से प्रचारित किया गया।
- **सितंबर 2007** – प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह द्वारा योजना आयोग की बैठक में शिक्षा में पीपीपी की निर्णायक भूमिका का एलान।
- **सितंबर 2009** – मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा स्कूली शिक्षा में पीपीपी का एक नीतिगत प्रस्ताव सलाह–मशविरे के लिए जारी।
- **2011** – वित्त मंत्रालय द्वारा 'ड्राफ्ट नेशनल पब्लिक–प्राइवेट पार्टनरशिप पॉलिसी' नामक दस्तावेज जारी।

शिक्षा पर पीपीपी के कुछ उल्लेखनीय हमले

- सुप्रीम कोर्ट का उच्च शिक्षा के बाजारीकरण को व्यवहार में अनुमति देनेवाला टीएमआई पाई फ़ाउंडेशन फैसला (2002) जिसके चलते पीपीपी को खुली छूट मिल गई।
- 86वें संविधान संशोधन अधिनियम, 2002 जिसके जरिए छह साल से कम आयु के 17 करोड़ बच्चों के पोषण, स्वास्थ्य एवं पूर्व–प्राथमिक शिक्षा का मूलभूत अधिकार छीनकर और 14–18 साल के 9 करोड़ बच्चों को माध्यमिक शिक्षा का मूलभूत अधिकार न देकर निजीकरण–बाजारीकरण और उसमें पीपीपी के लिए दरवाजे खोल दिए गए। इसी अधिनियम के जरिए संविधान के अनुच्छेद 51ए में उप–अनुच्छेद (के) जोड़कर प्रारंभिक शिक्षा देने की जवाबदेही 'राज्य' से सरका कर अभिभावकों के कंधों पर डाल दी गई है जिसके चलते वे पीपीपी पर आधारित वाउचर स्कूल की नवउदारवादी नीति के लिए मजबूर किए जाएंगे।
- सन् 2005 में एनडीए सरकार की पूर्व पहल को आगे बढ़ाते हुए यूपीए सरकार ने विश्व व्यापार संगठन–गैट्स के पटल पर वैश्विक बाजार में खरीद–फरोख्त हेतु उच्च शिक्षा की पेशकश की।
- 11वीं पंचवर्षीय योजना में प्रखंड (ब्लॉक) स्तर पर 6,000 मॉडल स्कूल खोलने का विवादस्पद प्रस्ताव जिनमें से 2,500 स्कूल पीपीपी के तहत कारपोरेट घरानों के लिए होंगे यानी इनको सरकार की ओर से रियायती दरों पर जमीनें, भवन निर्माण के लिए अनुदान, सस्ते कर्ज आदि सुविधाओं के अलावा वंचित तबकों के नाम पर फीस भरपाई (प्रतिपूर्ति) भी की जाएगी और अंततः अचल संपत्ति भी उन्हीं के नाम करने का प्रावधान रहेगा। ऊपर से तुर्रा यह कि आधी से ज्यादा सीटों के लिए मनमानी ढंग से फीस वसूली की छूट भी रहेगी।
- नवउदारवादी नीतियों के जनक दिवंगत प्रो. मिल्टन फ्रीडमैन द्वारा प्रस्तावित 'वाउचर स्कूल' की पीपीपी नीति को सैद्धांतिक स्वीकृति और कुछ चयनित इलाकों में इसे प्रायोगिक स्तर पर लागू करने के लिए हर प्रकार का समर्थन। भारत में इसके लिए खड़ी की गई अंतर्राष्ट्रीय वित्तपोषित एनजीओ (सेंटर फ़ॉर सिविल सोसायटी) को 'वाउचर स्कूल' के पक्ष में 'स्कूल च्वाइस' एवं 'बजट स्कूल' जैसी निहायत संविधान–विरोधी नवउदारवादी अवधारणाओं को स्थापित करने के लिए बेलगाम छूट।
- तथाकथित 'शिक्षा अधिकार कानून, 2009' जिसमें एक ओर बहुतांश बच्चों को गैर–बराबरी व भेदभाव पर टिकी हुई बहुपरती शिक्षा देने की व्यवस्था है और दूसरी ओर बमुश्किल 5–6 फीसदी बच्चों को निजी स्कूलों में 25 फीसदी कोटे में दाखिला दिलवाकर फीस भरपाई के नाम पर सरकारी स्कूलों को बेहतर बनाने के बजाय निजी स्कूलों को सार्वजनिक धन सौंपने

की व्यवस्था। इसी कानून के अन्य कई प्रावधान भी पीपीपी के नजरिए से निजी स्कूलों को बढ़ावा देते हैं।

- सन् 2000 के बाद से विभिन्न राज्य सरकारें कालेजों व विश्वविद्यालयों के अनुदानों में बढ़ते क्रम में कटौती कर रही हैं। इसके चलते उच्च शैक्षिक संस्थानों को मजबूरन स्व–वित्तपोषित कोर्स शुरू करने पड़े। इसी के चलते इन संस्थानों के दरवाजे पीपीपी के तहत निजी कंपनियों के लिए खुलते जा रहे हैं और कोर्सों की पाठ्यचर्या बाजार के हवाले होती जा रही है।
- राज्य सरकारें निजी पूंजी व एनजीओ को कालेज व विश्वविद्यालय खोलने और मुनाफा कमाने की बेलगाम छूट दे रही हैं। इसके लिए निजी पार्टियों के पक्ष में नीतियां, नियम व कानून तोड़े–मरोड़े जा रहे हैं और पूर्व की तयशुदा कार्यप्रणाली की जगह तदर्थवाद व भ्रष्टाचार ने ले ली है, खासकर शिक्षक नियुक्ति, प्रवेश प्रक्रिया, फीस निर्धारण व परीक्षाओं के मामलों में।
- राजस्थान में पूर्व की भाजपा और वर्तमान की कांग्रेस सरकारों ने अनेक निजी पार्टियों के पक्ष में अलग–अलग निजी विश्वविद्यालय अधिनियम पारित किए। सैंकड़ों हेक्टेयर सरकारी जमीनें इन्हें रियायाती दरों पर लुटाई गई लेकिन कानून में यहां तक प्रावधान डाल दिया गया कि यदि किसी कारणवश **संबंधित पार्टी विश्वविद्यालय बंद करती है तो भी उसको सरकार द्वारा दी गई अचल संपत्ति उसी के पास रहेगी!** पीपीपी के जनविरोधी चरित्र का इससे ज्यादा ठोस सबूत और क्या हो सकता है?
- केंद्रीय व विभिन्न राज्य सरकारें नीति निर्धारण व पाठ्यचर्या निर्माण का काम भी कंपनियों के हवाले कर रही हैं, खासकर कंप्यूटर कंपनियों के।
- 'शिक्षा अधिकार कानून, 2009' के पूर्व कई राज्यों में सरकारी स्कूलों की तालाबंदी या विलयन करके निजी स्कूलों के लिए बाजार खोला गया – उदा. आंध्र प्रदेश में 6,000, कर्नाटक में 3,000 सरकारी स्कूल। उक्त कानून का क्रियान्वयन शुरू होने के बाद इस प्रक्रिया में तेजी आ गई – उदा. सन् 2013–14 में कर्नाटक में 12,000 स्कूलों की तालाबंदी या विलयन करने का फैसला लिया जा चुका है।
- जनवरी 2013 में बृहन्मुंबई महानगरपालिका (मनपा) द्वारा उसके सभी 1,174 स्कूलों को पीपीपी के तहत कारपोरेट घरानों, धार्मिक संगठनों व एनजीओ को सौंपने के लिए पांच मॉडलों वाला प्रस्ताव पारित। इस तरह मनपा पहला निकाय बन गया जिसने शिक्षा के प्रति अपनी संवैधानिक जवाबदेही से पूरी तौरपर (चंदेक स्कूल से नहीं) पल्ला झाड़कर निजी पूंजी के सामने घुटने टेक दिए। इसके मॉडलों में स्कूलों की 'नीलामी' करने जैसी संभावना भी है। जाहिर है कि निजी पार्टियों की स्कूलों से ज्यादा रुचि उनकी बेशकीमती जमीनों में है।
- बृहन्मुंबई महानगरपालिका की तर्ज पर पुणे की नगरपालिका ने अपनी 48 बालवाड़ियां एक कंपनी को सौंप दी हैं और महाराष्ट्र की जिला परिषदों व

अन्य नगरनिगमों में भी इसी दिशा में बढ़ने के संकेत मिलने लगे हैं। अब उत्तराखंड सरकार ने 2,200 व दिल्ली के दक्षिण क्षेत्र के नगर निगम ने 50 स्कूलों को पीपीपी के तहत निजी हाथों को सौंपने का फैसला किया है।

- कर्नाटक सरकार ने 3 साल पहले अपने 'राज्य शैक्षिक शोध एवं प्रशिक्षण परिषद्' (एससीईआरटी) को 'अज़िम प्रेमजी फ़ाउंडेशन' को सौंपने का फैसला लिया लेकिन भारी प्रतिरोध के चलते फैसला वापस लेना पड़ा। इसके बावजूद उक्त फ़ाउंडेशन और ऐसी अन्य ताकतवर एनजीओ को विभिन्न राज्य सरकारें काफी बड़ी संख्या में स्कूलों में मनमानी ढंग से घुसपैठ करने की छूट दे रही हैं। इसके चलते बच्चों के साथ अनेक प्रकार की नाइंसाफी होने और संविधान–विरोधी विचारधाराओं (सांप्रदायिक भी) को थोपने की रपटें आने लगी हैं, खासकर जब पीपीपी में धार्मिक संगठनों को शामिल किया जाता है।
- पिछले कुछ सालों में दिल्ली नगरनिगम ने कई एनजीओ को, जिनके पास शिक्षा का कोई अनुभव तक नहीं है, पीपीपी के तहत स्कूलों में तदर्थ ढंग से काम करने की इज़ाज़त दे दी है। इसके चलते शिक्षकों के काम में कई बाधाएं भी आ रही है। इस एनजीओकरण से पढ़ाई को हो रहे नुकसान की एक शिक्षक समूह ने तथ्यात्मक रपट तैयार की है। जाहिर है कि स्कूलों के एनजीओकरण से शिक्षा व्यवस्था में अराजकता का माहौल बन रहा है।
- दरअसल, विद्यार्थियों को दिए जानेवाला सस्ता शैक्षिक कर्ज भी निजी पूंजी को सार्वजनिक धन सौंपने का ही तरीका है चूंकि इसके बगैर इनके संस्थानों की सीटें खाली रह जाएंगी। खाली सीटों को भरवाने के लिए राज्य सरकारें एड़ी से चोटी तक कवायद करती हैं, उदा. विद्यार्थियों की अर्हता घटाना, प्रवेश प्रक्रिया और काउंसिलिंग में अनयिमितताओं की इज़ाज़त देना, आदि।
- समावेशन के नाम पर अब अल्पसंख्यक युवाओं को भी पीपीपी के बहाने सार्वजनिक धन को निजी पूंजी को सौंपने का जरिया बनाया जा रहा है। प्रतिभाशाली अल्पसंख्यकों को कोचिंग कराने के लिए विशेष स्कीम शुरू की गई है। इसकी जगह कि सरकार कोचिंग को खत्म करने या गैर–प्रासंगिक बनाने के लिए यथोचित कदम उठाती, उसने खुद ही कोचिंग के विशाल धंधे के सामने घुटने टेकते हुए सार्वजनिक धन स्थानांतरित करने का नया रास्ता खोल लिया।
- छठे वेतन आयोग ने यह भी प्रावधान कर दिया है कि वेतनभोगी को उसके दो बच्चों की शिक्षा पर किए गए खर्च के लिए एक–एक लाख रुपए प्रति वर्ष तक की आयकर की छूट रहेगी। जाहिर है कि यह खर्च अमूमन निजी संस्थानों में ही होगा, सरकारी संस्थानों में नहीं। यानी बड़ी मात्रा में सार्वजनिक धन निजी पूंजी को सौंपने का यह एक नायाब पीपीपी है! ■

साक्षात्कार[1] – खंड एक

पीपीपी का राजनीतिक अर्थशास्त्र

प्र. – अनिलजी, आप सार्वजनिक–निजी साझेदारी (पब्लिक–प्राइवेट पार्टनरशिप यानी पीपीपी) को किस नज़रिए से देखते हैं?

उ. – देखिए, इस सवाल को राजनीतिक अर्थशास्त्र के नज़रिए से देखने की ज़रूरत है। इसके लिए पूंजीवाद के इतिहास को देखने से मदद मिलेगी। 19वीं सदी के उत्तरार्ध में अमरीका व यूरोप में उत्पादन और पूंजी का संकेन्द्रण या एकत्रीकरण इस हद तक बढ़ता गया कि 20वीं सदी के शुरूआती काल में आर्थिक जीवन पर एकाधिकारी (मोनोपली) संगठनों का आधिपत्य होने लगा। इसी प्रक्रिया में खुली या स्वतंत्र प्रतिस्पर्धा ने एकाधिकारी होड़ का रूप ले लिया जो पहले के मुकाबले में और भी अधिक तीखी हो गई। जब पूंजीवाद, एकाधिकारी पूंजीवाद में संक्रमण कर लेता है तो वह साम्राज्यवाद का रूप ले लेता है। इस दौरान औद्योगिक पूंजी और बैंकिंग पूंजी[2] एक दूसरे के साथ मिलकर वित्तीय पूंजी का निर्माण करती हैं। इसका मतलब है कि बड़े बैंक या अन्य वित्तीय संस्थान समाज में निष्क्रिय पड़े हुए धन को ऋणों के जरिए मैन्युफैक्चरिंग उद्यमों को उपलब्ध कराने लगे और आगे बढ़ते हुए ताकतवर एकाधिकारी संगठन बनकर मैन्युफैक्चरिंग स्टॉक खरीदकर मैन्युफैक्चरिंग उद्योग में घुसपैठ करने लगे। इसी तरह मैन्युफैक्चरिंग एकाधिकारी संगठन भी बैंकों व अन्य वित्तीय संस्थानों के स्टॉक खरीदकर बैंकिंग उद्योग में घुसपैठ करने लगे। परिणामस्वरूप एकाधिकारी बैंकिंग पूंजी और एकाधिकारी औद्योगिक पूंजी का आपस में विलय हो गया और वित्तीय पूंजी अस्तित्व में आई। इसके चलते मालों या उत्पादों के निर्यात की जगह पूंजी के निर्यात का महत्व बढ़ जाता है। साम्राज्यवाद की बुनियाद यह वित्तीय पूंजी ही है। लेकिन यहां यह रेखांकित करना ज़रूरी है कि वित्तीय पूंजी के निर्माण और उसके सहारे साम्राज्यवाद के आगे बढ़ने के पीछे प्रत्येक साम्राज्यवादी मुल्क में 'राज्य' ने निर्णायक भूमिका निभाई। 'राज्य' के समर्थन से ही यह संभव हुआ कि वित्तीय पूंजी के मालिक राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तरों पर पूंजी का

---

[1]लगभग छह साल पुराना यह **साक्षात्कार** 'दिगंतर' (जयपुर, राज.) द्वारा प्रकाशित 'शिक्षा विमर्श', जनवरी–अप्रैल 2008, पृ. 68–96 से साभार लिया गया है।

[2]बैंकिंग पूंजी वह पूंजी है जो बैंक व अन्य वित्तीय संस्थान समाज से बटोरते हैं जिसका एक प्रमुख स्रोत मेहनतकश जनता की गाढ़ी कमाई से की गई बचत और राजकीय या सरकारी निवेश होता है।

तुलनात्मक रूप से छोटा सा परिमाण भी विशाल कंपनियों में निवेशित करके मूल पूंजी से कई गुना अधिक पूंजी को नियंत्रित कर पाए। इस प्रक्रिया से वित्तीय सम्राटों का निर्माण होता है जो न केवल राष्ट्रीय स्तर पर बल्कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी पूरी आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था को नियंत्रित करने लगते हैं। साथ में, प्राकृतिक संसाधनों एवं मेहनतकश जनता द्वारा बनाई गई संपदा पर भी मुट्ठीभर वित्तीय सम्राटों का कब्जा हो जाता है। वित्तीय सम्राटों के बीच अपने–अपने अस्तित्व और आधिपत्य के लिए होड़ और अधिक तीखी हो जाती है। इसका एक परिणाम खेती–आधारित अर्थव्यवस्था का कमजोर होना है चूंकि कृषि उत्पादों के मुकाबले औद्योगिक उत्पादों का मूल्य ज्यादा तेजी से बढ़ाया जाता है। साथ–साथ वित्तीय पूंजी मंझोले और छोटे उद्योगों को भी हड़प लेती है। परिणामस्वरूप गरीबी, गैर–बराबरी और बेरोजगारी बढ़ती है जिसके चलते अंततः मेहनतकश जनता भी साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष के लिए लामबंद होती है।

प्र. – आगे बढ़ने से पहले ज़रा समझा दीजिए कि राजनीतिक अर्थशास्त्र के मायने क्या हैं?

उ. – अच्छा किया कि आपने यह सवाल पूछ लिया चूंकि पाठक शायद इस विषय से परिचित न हों। राजनीतिक अर्थशास्त्र में अर्थशास्त्र और राजनीति के बीच के संबंधों तथा उत्पादक शक्तियों और उत्पादन संबंधों के बीच के अंतर्विरोधों की प्रकृति का अध्ययन किया जाता है। इस विषय का अध्ययन भी अलग–अलग नज़रियों और विचारधाराओं के तहत होता है। पूंजीवाद के विकास का जो दृष्टिकोण मैंने पेश किया है वह मार्क्सवादी दर्शन पर आधारित राजनीतिक अर्थशास्त्र से निकला है। मुझे इस विश्लेषण से तथाकथित सार्वजनिक–निजी साझेदारी के मुद्दे को व्यवस्थित रूप से समझने में काफी मदद मिली है। इसके बगैर हम तदर्थ रूप से अंधेरे में इधर–उधर हाथ–पैर मारते रहते हैं, खुद भ्रमित होते हैं और दूसरों को भी भ्रमित करते हैं।

प्र. – आप तो वित्तीय पूंजी के निर्माण से साम्राज्यवाद के पनपने को जोड़कर जो तस्वीर पेश कर रहे है, वह वित्तीय सम्राटों की निर्बाध राजनीतिक ताकत की ओर साफ इशारा कर रही है। यह ताकत कितनी हो सकती है, क्या आप इसका कोई अंदाज़ा दे सकते हैं?

उ. – मैं आपको एक पुराने अध्ययन से उदाहरण दूंगा। सन् 1970 में अमरीका के मॉर्गन और रॉकफेलर समूह दो सबसे बड़े वित्तीय एकाधिकारी संगठन थे जिनका प्रभाव पूरी पूंजीवादी दुनिया में था। ये दो

वित्तीय समूह उस समय कुल 330.4 अरब डालर की पूंजी को नियंत्रित करते थे जो अमरीका के 18 सबसे बड़े एकाधिकारी संगठनों द्वारा नियंत्रित पूंजी के आधे के बराबर था और ब्रिटेन, फ्रांस, पश्चिम जर्मनी व जापान के सभी वित्तीय एकाधिकारी संगठनों की संयुक्त पूंजी से ज्यादा था। मॉर्गन समूह के उद्यम अमरीकी अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में फैले हुए थे, खासकर लौह व इस्पात, विद्युत व गैस, इलैक्ट्रॉनिक्स, रसायन, सार्वजनिक सेवाओं एवं परिवहन में। उधर, रॉकफेलर समूह की पांच प्रमुख तेल कंपनियां पूरे अमरीका के तेल उत्पादन के 94.1 फीसदी को नियंत्रित करती थीं। बेशक, इन दोनों समूहों की अमरीकी अर्थव्यवस्था में निर्णायक भूमिका थी।

प्र. – क्या ऐसे वित्तीय एकाधिकारी संगठन केवल आर्थिक जीवन को ही प्रभावित करते हैं या फिर ये राजनीतिक क्षेत्र में भी घुसपैठ करते हैं?

उ. – देखिए, मैंने पहले भी कहा था कि वित्तीय एकाधिकारी संगठनों के बनने से संसाधनों एवं बाजार पर नियंत्रण की होड़ केवल औद्योगिक पूंजी पर टिके हुए पूंजीवाद की तुलना में और भी ज्यादा तल्ख एवं गलाकाटू हो जाती है। जाहिर है कि इसके लिए वित्तीय पूंजी राज्य की केवल आर्थिक व्यवस्था को ही नहीं वरन् राजनीतिक ताकत को भी नियंत्रित करने के लिए हर प्रकार के दांव–पेंच चलती है। सबसे सीधा तरीका विधायिका और कार्यपालिका के निर्वाचित या उच्च–पदस्थ सदस्यों व अधिकारियों को घूस देना रहा है ताकि वे राज्य मशीनरी के निर्णयों को उनके पक्ष में करने के लिए उनके एजेंटों के रूप में काम करें। ज़रूरत पड़ने पर न्यायपालिका को भी इसी तर्ज पर प्रभावित किया जाता है। बात यहां खत्म नहीं होती। कभी–कभी वित्तीय एकाधिकारी संगठन राज्य के नेतृत्व को व्यक्तिगत रूप से भी हथिया लेते है। उदाहरण के लिए दूसरे विश्वयुद्ध के बाद अमरीका मे आइज़नहॉवर के राष्ट्रपति बनने के पीछे मॉर्गन और रॉकफेलर समूहों का हाथ था। आइज़नहॉवर प्रशासन के 271 उच्च–पदस्थ अधिकारियों में से 150 स्वयं बड़े पूंजीपति थे। उस प्रशासन के गृह सचिव रॉकफेलर फाउंडेशन के ट्रस्टी थे, रक्षा सचिव जनरल मोटर्स कंपनी के महाप्रबंधक थे, एक अन्य रक्षा सचिव मॉर्गन समूह में महत्वपूर्ण पद पर थे और बाद में मॉर्गन गारंटी ट्रस्ट के निदेशक बने एवं वित्त सचिव एक प्रमुख उद्यम हान–ना माइनिंग कंपनी के वरिष्ठ अधिकारी थे। वर्तमान बुश प्रशासन में भी अमरीका की विशाल तेल कंपनियों के प्रतिनिधि महत्वपूर्ण पदों पर हैं और इसीलिए तेल के भंडार इराक पर अमरीकी हमले को इनकी

उपस्थिति से अलग करके देखना राजनीतिक मासूमियत ही होगी। यह एक खुला तथ्य है कि इराक के तेल भंडार को अमरीका की पांच बड़ी कंपनियों में बांटा जा रहा है।[3]

प्र. – क्या ये वित्तीय एकाधिकारी संगठन राजनीतिक क्षेत्र के अलावा सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी घुसपैठ करते हैं?

उ. – निश्चित ही, वित्तीय पूंजी समाचारपत्र, टेलीविज़न, रेडियो, प्रकाशन और फिल्म उद्योग जैसे अधोसंरचना के क्षेत्रों पर भी कब्जा जमाती है चूंकि इनके जरिए आम जनता यानी खरीदारों या उपभोक्ताओं की अभिरुचियों, झुकावों और आदतों को अपने उत्पादों के पक्ष में प्रभावित किया जा सकता है और इसी तारतम्य में उनके राजनीतिक सोच को भी। रॉकफेलर समूह ने तो अपने विशाल 'लोकहितैषी फाउंडेशनों' के जरिए न केवल अमरीका में वरन् अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी विद्वत सभाओं, बुद्धिजीवियों, संग्रहालयों, अस्पतालों, कल्याणकारी संस्थाओं और सांस्कृतिक केंद्रों को प्रभावित किया है। भारत में भी आज़ादी के बाद से ही टाटा एवं बिड़ला समूहों ने वैज्ञानिक व सामाजिक विज्ञान शोध संस्थाओं, उच्च व तकनीकी शिक्षा संस्थानों, संग्रहालयों, सांस्कृतिक केंद्रों और यहां तक कि मंदिरों तक में पूंजी लगाकर जनमानस में प्रतिष्ठा पाई है एवं भारत के राजनीतिक नेतृत्व (लगभग हरेक संसदीय राजनीतिक दल के) के साथ बेहद करीबी के रिश्ते बनाकर रखे हैं। निःसंदेह, इसके चलते उनके कारोबार को राजनीतिक एवं आर्थिक लाभ परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनों तरीकों से मिला है। हालिया खबर है कि अनिल अंबानी समूह फिल्म उद्योग में पूंजी लगाने जा रहा है। तमाम मोबाइल कंपनियां टेलीविज़न पर चल रहे 'इंडियन आईडल' या 'स्टार वॉयस ऑफ़ इंडिया' जैसे कार्यक्रमों में जनमत इकट्ठा करने का जरिया बनकर न केवल जमकर मुनाफा बटोर रही हैं बल्कि मनोरंजन एवं जनसंस्कृति की परिभाषा भी निर्बाध उपभोगवाद के पक्ष में बदल रही हैं और समाज को अ–राजनीतिक बना रही हैं।

प्र. – एक और बात स्पष्ट कीजिए। आपने सार्वजनिक–निजी साझेदारी के सवाल को जिस तरह राजनीतिक अर्थव्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में रखा है उससे आज चल रही बहस में फैलाए गए भ्रम को दूर करने में काफी मदद मिलती है। लेकिन तब भी ज़रूरत है कि आप निजी पूंजी और

[3]बुश प्रशासन की वर्तमान विदेश सचिव सुश्री कोंडोलिज़ा राइस इन पांच तेल कंपनियों में से एक शेवरॉन कंपनी के बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स की सदस्य रहीं हैं। वैसे तो राष्ट्रपति जॉर्ज बुश स्वयं तेल व्यवसाय से सीधे जुड़े रहे हैं।

कारपोरेट घरानों को विकसित करने में राज्य की भूमिका का खुलासा करें।

उ. – इस संदर्भ में 19वीं सदी के विख्यात राजनीतिक दार्शनिक एंगल्स की भविष्यवाणी को याद करना सटीक होगा। उनके अनुसार जब पूंजीवाद एक विशिष्ट मंजिल पर पहुंच जाता है तो **"राज्य, जो पूंजीवादी समाज का असली एजेंट है, उत्पादन के प्रबंधन का दायित्व अनिवार्यतः अपने हाथ में ले लेता है।"** 'राज्य', एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग की मदद करने के लिए विभिन्न रणनीतियां अपनाता है, इनके कुछेक उदाहरण पेश करता हूं –

1. तथाकथित राष्ट्रीयकरण की नीतियां लागू करना जिसके तहत नुकसान उठा रहे बीमार निजी उद्यमों को बाजार से ज्यादा कीमतों पर खरीदना या तथाकथित सार्वजनिक या राजकीय उद्यमों में निवेश करना। दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान अमरीकी सरकार ने कई "राजकीय उद्यमों" की स्थापना की लेकिन युद्ध के बाद उन्हें एकाधिकारी पूंजीपति समूहों को कौड़ियों के भाव बेच दिया। भारत में भी ऐसी ही नीति अपनाई गई है।
2. राजकीय कोष से पूंजिपतियों को सब्सिडी देकर उनके निवेश के जोखिम को कम करना। इसका एक सटीक उदाहरण भारत में ही दिया जा सकता है। पहली पंचवर्षीय योजना से ही सरकार ने पिछड़े इलाकों में औद्योगिक निवेश के लिए निजी पूंजी को तरह–तरह की सुविधाएं दीं – रियायती दरों पर जमीन, बिजली और पानी, पांच साल के लिए आयकर व अन्य करों से छूट, रेल व सड़क से जोड़ना आदि। सरकारी दावे के अनुसार निजी उद्यमों को राजकीय सब्सिडी देने का मकसद पिछड़े इलाकों में रोजगार पैदा करना और गरीबी दूर करना था। लेकिन अक्सर यह देखने में आया कि सरकार और पूंजीपतियों की सांठगांठ के फलस्वरूप पिछड़े घोषित जिलों या विकासखंडों की सीमा से सटे हुए ऐसी जगह उद्योग स्थापित किए गए जो किसी बड़े शहर के नज़दीक थे और दरअसल पिछड़े हुए नहीं थे। लेकिन पूंजीपतियों को पिछड़े क्षेत्र के लिए घोषित सभी सुविधाओं का लाभ मिल गया और असली पिछड़े इलाके उपेक्षित रह गए। इसतरह सरकार ने पूंजी निवेश के जोखिम को कम करने में पूंजीपतियों की मदद की और जनता ने उसकी कीमत चुकाई।
3. कानून बनाकर या विभिन्न बजट प्रावधान बनाकर एकाधिकारी पूंजीपति समूहों के पक्ष में राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को मोड़ना। भारत में

विशेष आर्थिक क्षेत्र (स्पेशल इकॉनॉमिक ज़ोन यानी सेज़) के लिए हाल में बनाए गए विशेष जन–विरोधी कानून इसके सबूत हैं। शिक्षा के निजीकरण को बढ़ावा देने के इरादे से खड़े किए गए बजट प्रावधान का एक निहायत चतुर नमूना सन् 2003 के वित्तीय बिल में उच्च व तकनीकी शिक्षा हेतु साढ़े सात लाख से लेकर पंद्रह लाख तक के शैक्षिक ऋण का प्रावधान है। जरा सोचिए, क्या किसी भी विद्यार्थी को इतने बड़े ऋण की ज़रूरत आईआईटी, एम्स, रीजनल इंजीनियरिंग कालेजों या राज्य सरकार के मेडिकल कालेजों में पढ़ने के लिए पड़ती है? ऐसे ऋण की ज़रूरत केवल निजी तकनीकी संस्थानों में ही पड़ती है जहां केपिटेशन फीस व अन्य बहानों से बेतहाशा मुनाफा कमाया जाता है। जाहिर है कि शैक्षिक ऋण का प्रावधान खड़ा करने का प्रमुख उद्देश्य उच्च व तकनीकी शिक्षा के क्षेत्र में निजीकरण को बढ़ावा देना था। इसी कारण से बरसों तक सरकार ने संसाधनों की कमी का शोर मचाया ताकि निजी संस्थानों की मांग बढ़ जाए और शैक्षिक ऋण के जरिए राजकीय समर्थन से राष्ट्रीयकृत बैंकों की पूंजी कारपोरेट घरानों के पास पहुंच जाए। आज चारों ओर सबूत है कि इस रणनीति का पूंजीपति वर्ग ने पूरा लाभ उठाया है और उच्च व तकनीकी शिक्षा महंगी हो गई है। एक बात और। 'राज्य' जब भी पूंजीपति वर्ग को लाभ पहुंचाने के लिए नीति बनाता है तो उसे जनकल्याण का जामा पहनाता है। इस मामले में भी कहा गया कि शैक्षिक ऋण का उद्देश्य गरीब विद्यार्थियों की मदद करना था। जनकल्याण का जामा पहनाकर ही बुर्जुआ लोकतंत्र आम जनता की नज़र में अपने प्रछन्न एजेंडे का वैधानीकरण करता है।

4. मंझोले और छोटे उद्यमों व कारोबारों को हड़पने एवं एकाधिकारी पूंजीपतियों की पूंजी के संकेंद्रण और निर्बाध मुनाफाखोरी को सुगम बनाने के लिए समर्थक हालात पैदा करना। हाल के सालों में कृषि मंडी में विशाल बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए नई जगह खड़ी करने के उद्देश्य से सरकार ने विशेष नीतियां बनाईं। इसी तर्ज में एकाधिकारी संगठनों के लिए अब खुदरा (रिटेल) कारोबार खोलने के लिए समर्थन दिया जा रहा है जिसकी कीमत लाखों छोटे खुदरा कारोबारी और रेड़ीवाले बेरोजगार होकर चुकाएंगे।
5. उपरोक्त नीतियों से जब जनता का शोषण बढ़ता है, बेरोजगारी फैलती है और जन–संसाधनों पर एकाधिकारी पूंजीपतियों का कब्जा मजबूत होने लगता है तब जनता संगठित होकर प्रतिरोध करती है।

इसके खिलाफ सीधे सरकार सक्रिय हो जाती है, क्रूर दमन करती है अथवा पूंजीपतियों द्वारा भेजे गए माफिया गिरोहों को दमन करने की खुली छूट देकर खुद तमाशबीन बन जाती है। हाल के बरसों में ओड़िशा में कोरिया की पास्को कंपनी, टाटा घराने व वेदांत कंपनी, पश्चिम बंगाल के सिंगूर में टाटा की नैनो कार परियोजना और महाराष्ट्र में अंबानी की सेज़ राज्य द्वारा इन पूंजीपतियों को दी जा रही मदद के लोकतंत्र का मखौल उड़ाते जीते–जागते सबूत हैं।

प्र. – वैश्वीकरण के दौर में और नवउदारवादी नीतियों के चलते राज्य और वित्तीय एकाधिकारी संगठनों के रिश्तों में क्या परिवर्तन होते है? इस पर आप कुछ कहेंगे?

उ. – ज़रूर। वैश्वीकरण, पूंजीवादी विकास की वह विशिष्ट मंजिल है जिसमें जहां एक ओर वित्तीय पूंजी का प्रभुत्व अपनी चरम ऊंचाई को छूने लगता है, वहीं दूसरी ओर एकाधिकारी संगठन उत्पादक शक्तियों को नियंत्रण करने में अक्षम भी होने लगते हैं। होड़ के अधिक तीखा और गलाकाटू होने का यही परिणाम है। विकसित पूंजीवादी देशों के सामने उनकी राष्ट्रीय या क्षेत्रीय अर्थव्यवस्थाओं के सीमित दायरे में बाजार और संसाधनों दोनों का संकट खड़ा हो जाता है। अर्थव्यवस्था के वैश्वीकरण को पूंजीवाद के विकास के इस चरण के नए संकट का अनिवार्य प्रतिफल मानने के पीछे यही तर्क है। इसलिए एकाधिकारी संगठनों को अपने अस्तित्व को बरकरार रखने, नए बाजारों में घुसपैठ करने और गरीब मुल्कों के शेष प्राकृतिक संसाधनों पर कब्जा करने के लिए बढ़ते क्रम में 'राज्य' की राजनीतिक ताकत की ज़रूरत पड़ती है।

प्र. – वैश्वीकरण के दौर में वित्तीय पूंजी द्वारा राज्य की राजनीतिक ताकत के इस्तेमाल के कुछ उदाहरण दीजिए।

उ. – ज़रूर। इराक के तेल भंडार पर कब्जा करने के लिए महज पांच तेल कंपनियों के पक्ष में अमरीकी सरकार की राजनीतिक व सामरिक ताकत के इस्तेमाल का जिक्र मैं पहले ही कर चुका हूं। यह वैश्वीकरण के दौर की महत्वपूर्ण परिघटना है चूंकि इससे पता चलता है कि एकाधिकारी पूंजीपति संगठनों के पक्ष में 'राज्य' किस हद तक जाकर लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं और मानव अधिकारों को नष्ट कर सकता है। दरअसल, एक ओर 'राज्य' और वित्तीय एकाधिकारी पूंजी के बीच गठबंधन एवं दूसरी ओर लोकतंत्र, जनकल्याण और मानव अधिकारों के बीच अनिवार्यतः अंतर्विरोध है जिसकी भारी कीमत मेहनतकश जनता चुकाती है।

अपने देश का एक उदाहरण देखिए। अमरीकी और भारतीय सरकारों के बीच कृषि के क्षेत्र में सन् 2005 का तथाकथित 'नॉलेज इनिशिएटिव इन एग्रीकल्चर' नामक समझौता भी अमरीका की अनाज के कारोबार और जनेटिक बायोइंजीनियरिंग के धंधे में लगी हुई विशाल बहुराष्ट्रीय कंपनियों (कारगिल, वालमार्ट आदि) के हित में नए रास्ते खोलने के इरादे से किया गया है – यह 'राज्य' की राजनीतिक ताकत के बगैर संभव ही नहीं था। इससे भी बड़ा उदाहरण विश्व व्यापार संगठन के तहत वर्तमान में हो रही दोहा वार्ताओं में अमीर व गरीब मुल्कों के बीच आए अवरोध का मसला है। अमरीकी सरकार अपने मुल्क के कृषि कारोबार व खाद्य–सुरक्षा के मद्देनज़र किसानों को भारी सब्सिडी देती है जिसके चलते गरीब मुल्कों की कृषि अर्थव्यवस्था खतरे का सामना कर रही है। भारत समेत कई अन्य देशों के किसान अपने कृषि उत्पादों की सही कीमत न पाने के कारण भारी कर्ज में डूब रहे हैं और हताशा में आत्महत्याएं कर रहे हैं। लेकिन अमरीकी सरकार यदि सब्सिडी देना बंद कर देगी तो न केवल उसकी अर्थव्यवस्था डगमगा जाएगी बल्कि कृषि कारोबार में लगे एकाधिकारी संगठनों का अस्तित्व भी नहीं टिक पाएगा। विडंबना यह है कि वही अमरीकी सरकार गरीब मुल्कों पर दबाव डाल रही है कि वे अपने किसानों को सब्सिडी देना कम कर दें या बेहतर हो कि बंद ही कर दें। दोहा वार्ता का अवरोध वित्तीय एकाधिकारी संगठनों की अमरीकी 'राज्य' पर पकड़ का एक अकाट्य सबूत है।

इसी तरह आप देखिए कि अमरीका–भारत परमाणु करार के मामले में इस करार को जल्दी संपन्न करने के लिए भारत से कहीं अधिक अमरीका बेचैन था और भारत सरकार के ऊपर भारी दबाव बनाया हुआ था। ऐसा क्यों था? इसके अंतर्राष्ट्रीय राजनीति और सामरिक रणनीति के कई कारण हो सकते हैं लेकिन एक महत्वपूर्ण कारण सीधे एकाधिकारी संगठनों के हित से जुड़ा हुआ है। पिछले कई सालों से अमरीकी नाभकीय उद्यमों के उपकरणों व नाभकीय ईंधन का बाजार सीमित हो गया है चूंकि अमरीका और यूरोप में नए परमाणु बिजली घर बनना बंद हो गया है। इसलिए अमरीकी नाभकीय उद्यमों में लगी निजी वित्तीय पूंजी के पक्ष में अमरीकी सरकार सक्रिय हुई एवं भारत सरकार पर इतना दबाव बनाया कि हमारी पूरी राजनीतिक व्यवस्था अस्थिर हो गई और जनमानस में अपनी प्रतिष्ठा खो बैठी।

प्र. – तो फिर आपने राजनीतिक अर्थव्यवस्था की जो विस्तृत पृष्ठभूमि पेश की है उसमें आप सार्वजनिक–निजी साझेदारी को क्या कहेंगे?

उ. – भारत सरकार जिसे सार्वजनिक–निजी साझेदारी कह रही है, उसे तो मेरे द्वारा प्रस्तुत राजनीतिक अर्थव्यवस्था के विवेचन और दृष्टांत के मद्देनज़र **साझेदारी नहीं वरन् मेहनतकश जनता के श्रम और जन–संसाधनों की सार्वजनिक–निजी लूट या फिर जनता के खिलाफ़ सार्वजनिक–निजी साजिश कहना ज्यादा सही होगा।**

प्र. – जिसे सरकार सार्वजनिक–निजी साझेदारी कहती है और आप सार्वजनिक–निजी लूट या साजिश कह रहे हैं, उसके भारत में आने का इतिहास क्या है? क्या यह विचार कहीं इतिहास में पहले भी मान्यता पाता रहा है या नई आर्थिक नीति से बनी वैश्वीकृत राजनीतिक अर्थव्यवस्था में ही इसके बीज छिपे हुए हैं?

उ. – यह कोई नया विचार नहीं है। भारत और दुनिया के विभिन्न देशों में सरकार और निजी पूंजी के बीच ऐसा जन–विरोधी रिश्ता या यूं कहें रणनीतिक तालमेल और गठबंधन का एक लंबा इतिहास रहा है। सम्राट अशोक और चंद्रगुप्त मौर्य के जमाने से लेकर मुगल बादशाहों और उसके आगे रजवाड़ों व नवाबों तक एक ओर शासक वर्ग एवं दूसरी ओर सेठ–साहूकारों व धन–कुबेरों के बीच ऐसे रिश्ते के अनेक दृष्टांत इतिहास में दर्ज हैं। ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारियों को सूरत बंदरगाह से लेकर विभिन्न रियासतों के राजाओं–नवाबों के संरक्षण में मुगल बादशाह के दरबार में आगरा तक पहुंचाने और वहां सल्तनत द्वारा उनको कारोबार के नाम पर जमीनें व अन्य सुविधाएं (जिनमें गोला–बारूद जमा करना और किले बनाना भी शामिल था) देने का इतिहास भी सामने है। बाद में भी ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत पर कब्जा जमाने और हमारे प्राकृतिक संसाधनों को मुनाफे का जरिया बनाने के लिए रणनीति बतौर एक–एक करके महाराजाओं, राजाओं व नवाबों के साथ अनेक संधियां–समझौते किए। ये सब भी एक विशेष प्रकार की तथाकथित 'साझेदारी' की ही तो मिसाल हैं। इनके बगैर न तो ईस्ट इंडिया कंपनी चल सकती थी और न ही भारत में ब्रिटिश राज स्थापित हो सकता था।

जब से राष्ट्र–राज्य की अवधारणा ने ठोस रूप लिया है तब से राज्य और वित्तीय पूंजी के रिश्ते के अलग–अलग मॉडलों को बदलती हुई राजनीतिक अर्थव्यवस्था की संरचना और उसमें निहित प्रक्रियाओं के अनिवार्य परिणामों के रूप में देखने की ज़रूरत है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि 'राज्य' के समर्थन के बगैर निजी पूंजी का विकास हो भी नहीं सकता था . . . . .

प्र. – माफ़ कीजिए, आपको बीच में टोक रहा हूं। यह तो आपने एक अतिमहत्वपूर्ण सिद्धांत सामने रख दिया जिसका सैद्धांतिक और ऐतिहासिक आधार आप पहले भी रख चुके हैं। एडम स्मिथ और जॉन स्टुअर्ट मिल से लेकर मिल्टन फ्रीडमैन तक व्यक्तिगत उद्यम, निर्बाध स्वतंत्रता व स्वायत्तता, होड़ से पूंजी का निर्माण, 'राज्य' की सीमित भूमिका आदि धारणाएं विकसित की गई हैं जो नब्बे के दशक में 'वाशिंगटन कन्सेंसस्' का आधार बनीं। मुक्त बाजारवाद के प्रवक्ताओं द्वारा इन्हीं धारणाओं की दुहाई देकर 'राज्य' की जनहित में संभव भूमिका के खिलाफ़ जो व्यवस्थित प्रचार किया जा रहा है, उसे आपका यह सिद्धांत सीधे चुनौती देता है। क्या आप इस सिद्धांत के पक्ष में इतिहास और समकालीन संदर्भों से कोई साक्ष्य पेश करेंगे?

उ. – साक्ष्य तो मैं पहले भी पेश कर चुका हूं लेकिन आप उनसे संतुष्ट नहीं हैं तो और सुनिए। अमरीका के ही इतिहास को देखिए। अमरीका के पूर्वी तट पर 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में 13 राज्यों की संघीय सरकार के गठन के बाद लगभग 3,000 कि.मी. दूर पश्चिमी तट की ओर बढ़ने का जो व्यवस्थित अभियान शुरू हुआ और 19वीं शताब्दी में परवान चढ़ा, उसका इतिहास पढ़िए। वहां के मूल निवासियों (जिन्हें हेय दृष्टि से 'रेड इंडियन' कहा गया) का दमन करने और उनकी जमीनें, जंगल और मवेशी हड़पने से लेकर यूरोप से आए प्रवासियों को संरक्षण देने और टैक्सास–कैलिफोर्निया तक उन्हें बसाने के लिए संघीय सरकार ने समर्थक नीतियां व कानून बनाए, सक्रिय मदद दी। इसी प्रकार अफ्रीका की जनता को गुलाम बनाकर जहाजों में क्रूरतम व अमानवीय तरीकों से ढोकर अमरीका लाना और उनसे जबर्दस्ती कपास के खेतों में मजदूरी करवाना और रेल की पटरियां बिछवाना, संघीय सरकार के नीतिगत, कानूनी व फौजी समर्थन से ही मुमकिन हो पाया। यह भी तथाकथित 'साझेदारी' का ही रूप है जिसमें 'राज्य' ने निजी पूंजी और निजी पूंजी ने 'राज्य' का अपने–अपने निहित स्वार्थों में बखूबी इस्तेमाल किया।

तथाकथित मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था[4] के प्रबलतम पैरवीकार भी यह मानते रहे हैं कि पूंजी और बाजार के विकास के लिए मददगार विदेश, गृह व आर्थिक नीतियां एवं मुद्रा, कानून, पुलिस और फौज की व्यवस्था बनी रहना एक आवश्यक शर्त है। इस शर्त को 'राज्य' ही पूरी कर

---

[4]अमरीकी कृषि अर्थव्यवस्था में सब्सिडी के उदाहरण में हम देख चुके हैं कि मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था एक मिथक है। इसीलिए मैं इसको तथाकथित कहता हूं।

सकता है। आजादी के बाद भारत में भी अगर सार्वजनिक क्षेत्र में सरकार द्वारा औद्योगिक उपक्रमों को खड़ा नहीं किया जाता तो निजी पूंजी निवेश के लिए जरूरी रेल, सड़क यातायात, बांध, बिजली, पानी, पेट्रोलियम और इस्पात कहां से आता? बैंकिंग और सार्वजनिक वित्त को व्यवस्थित रूप देने और उसे पूंजीपति वर्ग को उपलब्ध कराने में 'राज्य' की ज़रूरी भूमिका से भी कोई इंकार नहीं करेगा। यहां तक कि तथाकथित मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था के प्रतीक शेयर बाजार की कल्पना भी सरकार की मददगार निगरानी बोर्ड (भारत में 'सेबी') के बगैर नहीं की जा सकती। यह सब विशाल आधारभूत ढांचा खड़ा करना पूंजीपतियों के अपने बलबूते की बात नहीं थी। सार्वजनिक क्षेत्र के खिलाफ हो–हल्ला करनेवाले मुक्त अर्थव्यवस्था के दावेदार चाहे इस तथ्य को खुलकर स्वीकारते नहीं है लेकिन जानते ज़रूर हैं। एक बार इस हकीकत को रतन टाटा ने स्वयं स्वीकारा था। **अब यह सार्वजनिक–निजी साजिश नहीं है तो क्या है जिसके तहत बुर्जुआ लोकतंत्र की तमाम संस्थाओं का इस्तेमाल वित्तीय पूंजी अपने हित में करती रहती है लेकिन जब–जब जनहित में 'राज्य' की भूमिका की बात उठती है तब–तब उसे सीमित करने का दबाव बनाया जाता है?** हम सभी जानते हैं कि भारत में समाजवाद का नारा ज़रूर लगाया गया था लेकिन वह कभी आर्थिक नीति और विकास का आधार नहीं बना। आजादी के बाद से ही मिश्रित अर्थव्यवस्था का सिद्धांत लागू किया गया जिसे **राज्य–समर्थित पूंजीवाद** कहना ज्यादा सही होगा। निजी पूंजी ने हमेशा ही देश की नीतियों को इस प्रकार से अपने पक्ष में बदलवाया कि अधिक–से–अधिक मुनाफा कमाया जा सके। जैसा कि मैं पहले भी कह चुका हूं, ठीक ऐसी ही कहानी पूंजीवाद के प्रतीक अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी और जापान जैसे मुल्कों की रही है जहां कारपोरेट पूंजी ने सरकारी नीतियों का अपने पक्ष में निर्माण करवाकर 'राज्य' का भरपूर दोहन और जन–संसाधनों का शोषण किया।

प्र. – आपने सार्वजनिक–निजी साझेदारी के बारे में जो समझ पेश की है, क्या आप भारत में उसके कुछ समकालीन उदाहरण दे सकते हैं?

उ. – मैं इसके दो अलग–अलग उदाहरणों का जिक्र करना चाहूंगा ताकि तथाकथित साझेदारी के अलग–अलग रूपों को समझा जा सके। नब्बे के दशक में मध्यप्रदेश सरकार और रेडीमेड कपड़ों की विशाल निर्माता कंपनी एस. कुमार्स के बीच नर्मदा नदी पर बन रही पनबिजली की रु. 2,450 करोड़ की महेश्वर परियोजना के संबंध में 'पॉवर पर्चेज़ एग्रीमेंट' हुआ। एस. कुमार्स कंपनी को पनबिजली के क्षेत्र में कोई पूर्व

ज्ञान व तजुर्बा नहीं था, लेकिन इसकी भी अनदेखी की गई। इस कंपनी ने महज रु. 136 करोड़ की पूंजी लगाने का वायदा किया। शेष पूंजी के लिए सार्वजनिक वित्तीय संस्थानों से कर्ज़ उपलब्ध किए गए। इसके अलावा एस. कुमार्स समूह ने प्रदेश के विभिन्न सार्वजनिक संस्थानों से लगभग एक सौ करोड़ रुपए की राशि अलग–अलग बहानों से प्राप्त की जिसके लिए तमाम नियमों को तोड़ा गया। इस भारी अनियमितता का पूरा ब्यौरा सी.ए.जी. ('कैग') की रपट में मौजूद है। लेकिन इससे भी सरकार को कोई फ़र्क नहीं पड़ा। इस सारे वित्तीय घोटाले से भी ज्यादा बड़े दो मसले हैं। एक, महेश्वर परियोजना से विस्थापित होनेवाले ग्रामवासियों के पुनर्वास के लिए सुप्रीम कोर्ट द्वारा अनुशंसित 'जमीन की जगह जमीन' देने की नीति का जमकर उल्लंघन हुआ जिसके खिलाफ वहां की जनता आंदोलन कर रही है। दूसरा, 'पॉवर पर्चेज' का जो समझौता हुआ उसके तहत जिन दरों पर यह कंपनी बिजली बेचेगी, वे प्रचलित दरों से कहीं ज्यादा हैं। उस पर तुर्रा यह है कि यदि किसी भी कारण से बिजली का उत्पादन नहीं हो सका (जैसे, नदी में पानी कम हो जाए) या बिजली की मांग कम हो गई तो भी सरकार एक न्यूनतम राशि कंपनी को देती रहेगी। यहां तो मुक्त बाजार का सिद्धांत भी तोड़ दिया गया और सरकार ने मुनाफे की पूरी गारंटी दे दी। जब इस अन्याय और सांठगांठ के खिलाफ नर्मदा घाटी की आंदोलित जनता ने मुंबई हाईकोर्ट में गुहार लगाई तो न्यायपालिका ने भी निजी पूंजी का साथ दिया। कोर्ट ने आंदोलन के नेतृत्व पर पाबंदी लगा दी कि वह कंपनी के बारे में लूट, साजिश, सार्वजनिक धन का दुरूपयोग और शोषण जैसे शब्दों का उपयोग नहीं करेगा। देखिए, किस प्रकार जनहित के नाम पर की जा रही तथाकथित 'साझेदारी' में नवउदारवादी वित्तीय पूंजी को सार्वजनिक धन और सरकारी ताकत के सहारे निर्बाध मुनाफा कमाने, लूट–खसोट करने और संविधान में आम जनता को दिए गए जीने के हक और अभिव्यक्ति के मौलिक अधिकारों का हनन करने की पूरी छूट मिल गई।

प्र. – आपने इस उदाहरण से वास्तव में तथाकथित 'साझेदारी' की एक निहायत जन–विरोधी तस्वीर पेश की है जिससे इसके कई आयाम उभरे हैं। अब अगला उदाहरण बताइए।

उ. – सार्वजनिक–निजी गठबंधन का दूसरा रूप और भी मौजू होगा जिसमें नवउदारवादी पूंजी किस हद तक जा सकती है, यह देखने को मिलेगा। पिछले कुछ वर्षों से विश्व बैंक और यूनिसेफ के नेतृत्व में दुनियाभर में बच्चों और गर्भवती महिलाओं के आहार–पोषण के सवाल पर एक विशेष प्रकार का अभियान चलाया जा रहा है। गरीब मुल्कों में

व्याप्त कुपोषण के तमाम आंकड़ों और अध्ययनों को पेश करते हुए विभिन्न देशों की सरकारों पर दबाव बनाया जा रहा है कि वे बच्चों और गर्भवती महिलाओं के आहार में विटामिन 'ए' व 'डी' एवं सूक्ष्म तत्व (जैसे ज़िंक, फ़ोलिक एसिड आदि) डालने का कार्यक्रम शुरू करें। इसके लिए 'बिल और मिलिंडा गेट्स फॉउंडेशन' की पहल पर और 'यू.एस.एड' व 'सीडा' (क्रमशः अमरीका व कनाडा की वित्तपोषक एजेंसियां) के वित्तीय समर्थन से विश्व बैंक और यूनिसेफ ने 'ग्लोबल एलायंस फॉर इम्प्रूव्ड न्यूट्रिशन' ('गेन') खड़ा किया है जिसमें दुनिया की बड़ी आहार और दवा निर्माता बहुराष्ट्रीय कंपनियों को शामिल किया गया है। ये कंपनियां कौन हैं? इस सूची में यूनीलीवर, कारगिल, क्राफ्ट फ्रूट्स प्रॉक्टर एंड गेम्बल्स और वोकहार्ड जैसे ताकतवर नाम हैं। 'गेन' के द्वारा भारत में 'इंडिया बिज़नेस एलायंस' नामक एक अलग गठबंधन खड़ा किया गया है जिसको विश्वसनीयता प्रदान करने के लिए यूनिसेफ के अलावा जनहित के नाम पर ख्याति प्राप्त एनजीओ (जैसे, 'एम.एस. स्वामीनाथन रिसर्च फाउंडेशन') को जोड़ा गया है। 'गेन' का असली मकसद क्या है? दरअसल, इसकी नज़र भारत सरकार द्वारा चलाए जा रहे मध्याह्न भोजन, आंगनबाड़ी और गर्भवती महिलाओं के लिए आहार–पोषण के हजारों करोड़ों रुपयों के विशाल कार्यक्रमों पर है। इनकी सारी कोशिश किसी तरह यह सिद्ध करने पर है कि बच्चों को जो पका हुआ भोजन दिया जाता है उसमें पोषक तत्वों की कमी रहती है, अतः इन बड़ी कंपनियों को पोषक तत्वों की पूरक आपूर्ति में साझेदार बनाया जाए। 'बिल एंड मिलिंडा गेट्स फाउंडेशन' ने मेडिकल शोध की विश्व–प्रसिद्ध ब्रिटिश पत्रिका 'लेंसट' के द्वारा आहार–पोषण पर विभिन्न देशों में चल रही परियोजनाओं का अध्ययन करवाकर एक विवादास्पद रपट छपवाई जिसमें दावा किया गया कि गरीब बच्चों व गर्भवती महिलाओं के आहार में बाहर से पूरक पोषक तत्वों को डालना ज़रूरी है। इस पूरी तैयारी से लैस होकर अब इस कारपोरेट गठबंधन द्वारा योजना आयोग पर नीति परिवर्तन का भारी दबाव बनाया जा रहा है। पांच सितारा होटलों में सांसदों, राजनैतिक दलों के नेताओं और बच्चों व गर्भवती महिलाओं के मुद्दों पर सक्रिय एनजीओ को इकट्ठा करके बहु–प्रचारित सलाह–मशविरों का आयोजन हो रहा है। एक बड़ी कंपनी तो इस अभियान में लगी है कि मध्याह्न भोजन में साफ–सफाई और पोषक तत्वों की कमी का खौफ़ पैदा करके पका हुआ भोजन देना ही बंद करवा दिया जाए और उसकी जगह बच्चों को उसके द्वारा तैयार किए गए पूरक पोषक तत्वों से युक्त बिस्कुट के पैकेट थमा दिए जाएं!

इस पूरक पोषक तत्वोंवाले अभियान में कारपोरेट लॉबी ने यह तथ्य छिपा लिया कि कुपोषण बुनियादी तौर पर गरीबी, गैर–बराबरी और सामाजिक लिंगभेद का मुद्दा है। लेकिन इस छल–कपट और वैज्ञानिक शोध और आंकड़ों को तोड़े–मरोड़े बगैर कुपोषण को मुनाफे का बाज़ार बनाना संभव नहीं था। सरकारी कार्यक्रमों में सार्वजनिक धन की लूट की इस साझेदारी में विश्व बैंक, यूनिसेफ, 'यू.एस.एड', 'सीडा' और अन्य कई ख्याति प्राप्त एनजीओ ने साथ दिया है। इस साजिश का जनहित में काम करनेवाले डॉक्टरों और वैज्ञानिकों के एक समूह ने वैज्ञानिक प्रति–साक्ष्य पेश करते हुए जमकर प्रतिरोध किया है और कुछ समय के लिए निजी पूंजी के हित में होनेवाले नीतिगत परिवर्तन को स्थगित करवा लिया है। लेकिन स्पष्ट रहे कि स्थगन का मतलब रुकवाना नहीं होता। विश्व बैंक और कारपोरेट पूंजी की सत्ता के सामने ऐसा लोकतांत्रिक विरोध कहां तक टिक पाएगा, इसके बारे में नवउदारवाद के दौर में सिंगूर–नंदीग्राम और देशभर में विभिन्न सेज़ परियोजनाओं के खिलाफ़ चल रहे आंदोलनों का तजुर्बा जनता में विश्वास नहीं जगाता।

प्र. – शिक्षा में तथाकथित 'साझेदारी' का सवाल उठाने के पहले हम अन्य क्षेत्रों से क्या सबक ले सकते हैं, इसको सैद्धांतिक और व्यवहारिक दोनों स्तरों पर समझाइए।

उ. – पहला सबक तो यह है कि निजी पूंजी का चरित्र राजनीतिक अर्थव्यवस्था के चरित्र के साथ बदलता रहता है – औद्योगिक पूंजी और बैंकिंग पूंजी के विलय से वित्तीय पूंजी के निर्माण की चर्चा हम कर चुके हैं। मोटे तौर पर हम देखते हैं कि जब भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था यानी राज्य–समर्थित पूंजीवादी अर्थव्यवस्था थी तब निजी पूंजी का मकसद अधिक–से–अधिक मुनाफा कमाने के लिए सरकारी नीतियों से लाभ कमाने तक सीमित था। लेकिन निजी पूंजी को अपनी सीमाएं भी मालूम थीं। अतः संविधान, लोकतंत्र, न्यायपालिका और जनहित की लक्ष्मणरेखा को तोड़ने का विधिवत प्रयास शायद नहीं होता था। एक मायने में सार्वजनिक–निजी समीकरण में 'राज्य' की सत्ता का इस्तेमाल निजी पूंजी ज़रूर करती थी लेकिन उसको चुनौती देने की हिम्मत नहीं करती थी – न ही अवधारणा के स्तर पर और न ही व्यवहार के स्तर पर। शायद निजी पूंजी की इस सीमा को उसके तत्कालीन औद्योगिक पूंजी के चरित्र के मद्देनज़र समझा जा सकता है जिसका विवेचन मैं शुरू में ही कर चुका हूं।

अलबत्ता, नवउदारवाद के दौर में भारत की औद्योगिक पूंजी का चरित्र भी बैंकिंग पूंजी से मिलकर तेजी से वित्तीय पूंजी में बदला है और अमरीकी पूंजी के समान बहुराष्ट्रीय हो चुका है। कई विश्लेषकों का मानना है कि सारी गरीबी, विषमताओं और पिछड़ेपन के बावजूद भारतीय अर्थव्यवस्था विकसित पूंजीवाद के चरण में पहुंच चुकी है। इसके कारण निजी पूंजी के हौसले भी बुलंद हैं। टाटा, बिड़ला, अंबानी और मित्तल समूह और यहां तक कि सार्वजनिक क्षेत्र की ओएनजीसी जैसी कंपनियां भी दक्षिण–पूर्व एशिया, अफ्रीका और लातिनी अमरीका में निवेश कर रही हैं एवं यूरोप और अमरीका की भीमकाय कंपनियों का अधिग्रहण भी कर रही हैं। विदेशी वित्तीय पूंजी के साथ सांठगांठ करके भारतीय कारपोरेट घराने संविधान, लोकतांत्रिक ढांचों और सार्वजनिक नीतियों पर अपना कब्जा करने की कवायद कर रहे हैं। जबकि आजादी के बाद के दो–तीन दशकों में 'राज्य' औद्योगिक पूंजी का एजेंट था तो अब 'राज्य' नवउदारवादी वित्तीय पूंजी का एजेंट बन गया है। अब तो वित्तीय पूंजी का मकसद राष्ट्र–राज्य की अवधारणा को ही खत्म करना है या फिर अपने नियंत्रण में चलनेवाला एक 'छिद्रित राज्य' बनाना है, जैसा कि मुक्त बाजार की अर्थव्यवस्था का तकाजा है। तभी तो वित्तीय पूंजी 'राज्य' का नवउदारवादी खाके में अपने हित में पूरा इस्तेमाल कर सकेगी। निजी पूंजी के लिए सवाल सिर्फ इतना रह गया है कि उसके द्वारा देश के संसाधनों, समाज व ज्ञान पर अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए जनता में अपनी विश्वसनीयता कैसे बरकरार रखी जाए। यह इसलिए ज़रूरी है ताकि जनता में बढ़ते हुए असंतोष और जनविरोध पर लगाम लगी रहे। इसीलिए तथाकथित 'साझेदारी' में वित्तीय पूंजी की मुनाफाखोर और शोषणकारी भूमिका को खैरात और परोपकार ('फ़िलॉन्थ्रापी') का लेबल लगाकर परोसा जाता है जिससे निर्बाध मुनाफा कमाने के असली मकसद के बारे में भ्रम बना रहे। तभी तो बाजार टिका रहेगा और नवउदारवादी पूंजी के विकास की संभावनाएं बनी रहेंगी। इस भ्रम को 'कारपोरेट सोशल रिस्पॉन्सिबिलिटी' का नाम दिया गया है। यह अमरीका के रॉकफेलर समूह के 'लोकहितैषी फाउंडेशनों' का नवउदारवादी भारतीय मॉडल है।

निजी पूंजी और 'राज्य' के बीच बदले हुए समीकरण का वर्तमान राजनीति में एक दिलचस्प नजारा बताना चाहता हूं। एक वह जमाना था जब मुख्य मंत्रियों से मुलाकात करने के लिए देशी–विदेशी बड़े–बड़े पूंजीपतियों को इंतज़ार करना पड़ता था। अब वह युग है जब बिल गेट्स की भारत यात्रा के दौरान उनके होटल के कमरे के बाहर मुख्य

मंत्रियों की क्यू लगती है और टाटा–अंबानी के साथ तस्वीरें खिंचवाकर मुख्य मंत्री जनता में अपनी विश्वसनीयता बढ़ाने की कोशिश करते हैं।

प्र. – इस बदली हुई आक्रामक भूमिका अदा करने के लिए क्या वित्तीय एकाधिकारी पूंजी अकेले काम करती है या अपने लिए समाज में कुछ समर्थक तत्व भी खड़े करती है?

उ. – मैं इस मुद्दे पर आने ही वाला था। अपना काम आसान करने के लिए वित्तीय एकाधिकारी पूंजी (देशी–विदेशी दोनों) ने समाज में तीन प्रकार के 'साझेदार' खड़े कर लिए हैं। इसमें सबसे प्रमुख 'साझेदार' अस्सी के दशक से बन रहे नए दौर के अधिकांश एनजीओ हैं जिनके अपने कोई ध्येय, आस्था, मूल्य या सामाजिक सरोकार नहीं हैं। इस सामान्यीकरण के सम्मानजनक अपवाद ज़रूर हैं लेकिन उनसे इस नई परिघटना की पुष्टि ही होती है। आज़ादी के बाद से अस्सी के दशक तक ऐसे अनेक स्वयंसेवी संगठन बने थे जिनका अपना कोई मकसद होता था जिसको पाने के लिए वे अपना सब कुछ झोंकने के लिए तैयार रहते थे। यह परिघटना अब लगभग इतिहास का पन्ना बन चुकी है। इसके ठीक विपरीत नवउदारवादी एनजीओ का कार्यक्रम वही तय करता है जो इनको 'फंड' देता है। यानी ये केवल ज़रिया मात्र हैं, मिशन नवउदारवाद का है। इसीलिए एनजीओ के इस विशाल क्षेत्र में अवधारणा, तर्क, सोच, बहस, आत्म–आलोचना और विश्लेषण पर टिके हुए सामाजिक कर्म के लिए कतई जगह नहीं बची है। अपने काम को अ–राजनीतिक बताकर भ्रम पैदा करना ही इनकी राजनीति है। जहां विचार का रेगिस्तान है, वहां अपनी विचारधारा का सवाल ही नहीं उठता। अतः अधिकांश एनजीओ नवउदारवाद की विचारधारा को जाने–अनजाने आगे बढ़ाते रहते हैं। इसीलिए जब–जब जनता में प्रतिरोध उठता है तो उसको खत्म करने का सबसे कारगर हथियार नवउदारवाद के पास एनजीओ का ही है।

दूसरी श्रेणी के 'साझेदार' देश के शीर्षस्थ अकादमिक संस्थानों में कार्यरत बुद्धिजीवी और शोधकर्ता हैं। नवउदारवाद ने शुरू से ही समझ लिया था कि भारत में ज्ञान व सोच पर आधारित बौद्धिक कर्म की एक समृद्ध परंपरा है जिसको विकृत या ध्वस्त किए बिना यहां की अर्थव्यवस्था में जड़ें जमाना मुमकिन नहीं होगा। आजादी की लड़ाई ने यह दिखा दिया था कि शिक्षित वर्ग से ही बढ़ते हुए जनविरोध के समर्थन में बुद्धिजीवी निकले जिन्होंने साम्राज्यवाद के चरित्र की चीरफाड़ की और आजादी की लड़ाई को सार्थक दिशा दी। इस राजनीतिक

चेतना से युक्त संघर्ष की धारा के प्रतीक शहीद भगतसिंह बने। आजादी के बाद सत्तर और अस्सी के दशकों में शहीद शंकर गुहा नियोगी ने 'संघर्ष और निमार्ण' के राजनीतिक फलसफ़े को छत्तीसगढ़ की जमीन पर उतारकर मजदूर वर्ग को विश्व बैंक द्वारा प्रायोजित बाजारवादी विकास के खाके को चुनौती देने के लिए तैयार किया था। इन्हीं कारणों से विश्व बैंक के सन् 1990 के दस्तावेजों से जाहिर होता है कि उसके पास बुद्धिजीवियों को यानी बौद्धिक कर्म को समाहित करने की एक सोची–समझी रणनीति थी – शोध के नाम पर अनुदान, सलाहकार बनने के लिए मानदेय, अंतर्राष्ट्रीय परिचर्चाओं व सम्मेलनों में भागीदारी के अवसर और अंततः विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और मुक्त बाजार के अन्य अंतर्राष्ट्रीय संस्थानों में नियुक्ति, इस रणनीति के जाने–माने तत्व हैं।

तीसरी श्रेणी के 'साझेदार' राजनेता और नौकरशाह हैं। अस्सी के दशक से ही विश्व बैंक और अन्य अंतर्राष्ट्रीय वित्त संस्थानों ने नौकरशाहों को अध्ययन के लिए फेलोशिप या फिर सीधे ठेके पर नियुक्ति देकर मुक्त बाजार और नवउदारवाद के सोच व कार्यक्रमों के अनुरूप ढालना शुरू कर दिया था। कालांतर में यही नौकरशाह केंद्रीय व राज्य सरकारों में वापिस आए और उन्होंने फिर वैश्विक बाजार की नीतियों को आगे बढ़ाने के लिए काम किया। ठीक इसी तरह संयुक्त राष्ट्र की यूनिसेफ, यूनेस्को या यू.एन.डी.पी. में इन नौकरशाहों ने 10–15 गुना वेतन पर काम किया और फिर सरकार में लौटकर उनके एजेंडे को आगे बढ़ाया, न कि भारतीय संविधान के एजेंडे को। सन् 1985 से लेकर आज तक ऐसे नौकरशाह प्रधानमंत्री कार्यालय, विभिन्न मंत्रालयों एवं योजना आयोग में रहे हैं। यह जगजाहिर है कि वर्तमान प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह और योजना आयोग के उपाध्यक्ष डॉ. मोंटेक सिंह आहलूवालिया दोनों लंबे अर्से तक विश्व बैंक के सलाहकार रहे हैं। राजनेताओं के मानस को अपने पक्ष में करने के लिए आए दिन भव्य आयोजनों में उन को शामिल किया जाता है और एकतरफा प्रायोजित अध्ययनों, शोध रपटों एवं नवउदारवादी विमर्श के जरिए मुक्त बाजार के सोच को आत्मसात करवाया जाता है।

प्र. – कई लोगों का मानना है कि नवउदारवादी नीतियों को आगे बढ़ाने में प्रमुख भूमिका नौकरशाहों की है, राजनेता तो कुछ जानते–समझते नहीं। आपका क्या विचार है?

उ. – यह एक भ्रम है। विश्व बैंक और नवउदारवादी नीतियों का विरोध करनेवाले लोगों के बीच भी यह भ्रम फैला हुआ है। पिछले वर्ष

(सितंबर, सन् 2007) दिल्ली में विश्व बैंक के ऊपर एक जनअदालत (ट्राइब्युनल) का आयोजन हुआ था जिसमें 'दी रिवॉल्विंग डोर' शीर्षक का पर्चा पेश किया गया। इस पर्चे में सारा फोकस उक्त बात पर था कि किस प्रकार नौकरशाह विश्व बैंक एवं अन्य ऐसी एजेंसियों में काम करते हैं और फिर लौटकर सरकारी नीतियों को प्रभावित करते हैं। यहां तक तो बात ठीक थी लेकिन उस पर्चे से भ्रम पैदा हुआ कि यह सब काम नौकरशाह खुद अपनी मर्जी से कर लेते हैं और इसमें राजनेताओं की कोई सचेत भूमिका नहीं है। हकीकत तो यह है कि भारत में कोई भी नौकरशाह इस प्रकार की नियुक्ति पर तब तक नहीं जा सकता जब तक की उसे सरकार चलानेवाले राजनेताओं की स्वीकृति न मिल जाए। ऐसे भ्रम पालने से व्यावहारिक स्तर पर दो प्रकार की समस्याएं खड़ी होती हैं। एक, हमारी लड़ाई का फोकस नौकरशाह हो जाते हैं और राजनेता एवं राजनीतिक दलों का नेतृत्व फोकस के बाहर रह जाता है। दूसरा, इस मसले में भारत के शासक वर्ग के चरित्र व भूमिका का सवाल लड़ाई का मुद्दा नहीं बनता। इसके कारण हमारी लड़ाई दिशाहीन और अधकचरी रह जाती है। दरअसल, राजनीति में ऐसे भ्रम तभी पनपते हैं जब हमारे विश्लेषण का खाका आधा–अधूरा होता है। इस संदर्भ में भ्रम इसीलिए है चूंकि हमने शासक वर्ग के चरित्र और राजनीतिक अर्थव्यवस्था को अपने विश्लेषण के दायरे में नहीं लिया। एक ओर, भारत का पूंजीपति वर्ग है जो स्वंय नवउदारवादी दौर में तेजी से वैश्विक पूंजीपति वर्ग का हिस्सा बनता जा रहा है या काफी हद तक बन भी चुका है। इसका अर्थ है कि भारतीय पूंजीपति वर्ग से अब वह सीमित लेकिन विवादस्पद उम्मीद भी नहीं कर सकते जो आजादी की लड़ाई के दौरान गांधीजी ने उस समय के पूंजीपति वर्ग के एक हिस्से से की थी। दूसरी ओर, शासक वर्ग में लोकतंत्र के तीनों स्तंभ यानी विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका और अब चौथा स्तंभ यानी मीडिया भी शामिल है। जाने–अनजाने में अधिकांश बुद्धिजीवी और एनजीओ भी शासक वर्ग के सहयात्री बन जाते हैं। अतः नवउदारवाद के खिलाफ चलनेवाली लड़ाई की रणनीति बनाते समय शासक वर्ग की इस पूरी अवधारणा को समझना ज़रूरी होगा।■

पीपीपी और शिक्षा के बदलते रिश्ते : इतिहास के आइने में

प्र. – अनिलजी, आपने राजनीतिक अर्थशास्त्र का यह व्यापक परिप्रेक्ष्य देकर तथाकथित सार्वजनिक–निजी 'साझेदारी' के पहले से ही विवादास्पद मुद्दे को और भी विकट बना दिया है। लेकिन हम एक बार फिर उसी मुद्दे पर लौटते हैं। क्या भारत में शिक्षा के क्षेत्र में राज्य और निजी पूंजी के बीच ऐसी कोई 'साझेदारी' या आपकी भाषा में लूट अथवा साजिश आज़ादी के पहले भी थी?

उ. – सन् 1835 में जब से मैकॉले की औपनिवेशिक शिक्षा का एजेंडा भारत में आगे बढ़ाया गया, तभी से उसके प्रतिरोध में शिक्षा का राष्ट्रीय एजेंडा खड़ा करने और उसके तहत शैक्षिक संस्थाओं का निर्माण करने की व्यापक जनपहल शुरू हुई। जाहिर है कि इस जनपहल के फलस्वरूप जो संस्थाएं बनीं वे जनपहल पर खड़ी की गई संस्थाएं थीं। वैसे भी इन्हें ब्रिटिश हुकूमत का समर्थन मिलने का सवाल ही नहीं उठता था। इनके लिए धन का स्रोत आम जनता से मिला चंदा एवं सेठ–साहूकारों, धन–कुबेरों, राजाओं व नवाबों और औद्योगीकरण के कारण उभरते हुए नवधनाढ्य वर्ग से मिलनेवाला दान–अनुदान था। इसका शायद सबसे पहला उदाहरण सन् 1858 में महात्मा फुले और उनकी पत्नी सावित्रीबाई द्वारा महाराष्ट्र में शुरू की गई कन्या शाला है। राष्ट्रीय एजेंडे के तहत भारत में शिक्षा का राष्ट्रीय ध्येय तय करने एवं शैक्षिक संस्थान खोलने का आह्वान सन् 1906 में कांग्रेस के अधिवेशन में दिया गया। डी.ए.वी. स्कूलों की श्रृंखला और नेशनल कालेज के नाम से खुलनेवाले महाविद्यालय इसी प्रक्रिया के उदाहरण हैं। बनारस हिंदू विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए मालवीयजी ने व्यापक स्तर पर दान इकट्ठा किया। केरल में विभिन्न सामाजिक तबकों ने इसी तर्ज पर स्कूली शिक्षा को आगे बढ़ाया। 'साझेदारी' बतौर इस जनपहल को त्रिवेंद्रम के महाराजा का पूरा समर्थन प्राप्त था। एक तरह से देखें तो सार्वजनिक–निजी साझेदारी की संभवतः भारत में यह शुरूआती मिसालों में से एक है। सन् 1920 के बाद गांधीजी की प्रेरणा से ब्रिटिश सरकार के विश्वविद्यालयों के विकल्प के रूप में राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई, जैसे गुजरात विद्यापीठ, काशी विद्यापीठ, जामिया मिल्लिया इस्लामिया और मदुरई में ग्रामीण विश्वविद्यालय। यहां पर ब्रिटिश सरकार की निजी संस्थानों को वित्तीय सहायता देने की 'ग्रांट–इन–एड' नीति

का जिक्र करना सटीक होगा। इस नीति का आधार यही था कि सरकार अपने को शिक्षा की पूरी व्यवस्था करने में सक्षम नहीं मानती, अतः जनपहल को मान्यता देते हुए वित्तीय सहायता देती है। सार्वजनिक–निजी साझेदारी की यह आज़ादी–पूर्व की नीति आज़ादी के बाद भी लागू रही जिसके फलस्वरूप सरकारी सहायता–प्राप्त निजी स्कूलों की एक पूरी श्रेणी आज मौजूद है। इस 'ग्रांट–इन–एड' नीति के जरिए आज़ादी के पहले ब्रिटिश सरकार और आज़ादी के बाद भारत सरकार शैक्षिक एजेंडे पर अपनी पकड़ रख सकी।

सन् 1937 में वर्धा में हुए राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन के बाद नई तालीम के विद्यालय बड़ी संख्या में देशभर में खोले गए। उस समय नौ में से सात प्रांतों में कांग्रेस की निर्वाचित सरकारें बन चुकीं थीं। गांधीजी के आह्वान पर इन सरकारों ने सैकड़ों की संख्या में अपने–अपने प्रांतों में नई तालीम के विद्यालय खोले। ये विद्यालय भी सार्वजनिक–निजी साझेदारी के विशेष उदाहरण हैं जहां जनपहल (यानी वर्धा सम्मेलन) ने विचार दिया और सरकार ने पैसा लगाया। लेकिन बड़ी संख्या में नई तालीम के विद्यालय सरकारी सहायता के बगैर भी शुरू हुए। यह दीगर बात है कि आज़ादी के बाद इनमें से अधिकांश को सरकारी सहायता मिलने लगी जिसके चलते उन्होंने तेजी से अपना शैक्षिक परिवर्तन का एजेंडा छोड़ दिया और सरकारी ढर्रे पर चलने लगे।

एक और धारा पर गौर करना ज़रूरी है। ईस्ट इंडिया कंपनी के समय से ही ईसाई मिशनरियों को तत्कालीन शासन से स्कूल खोलने के लिए परोक्ष व प्रत्यक्ष दोनों प्रकार का प्रोत्साहन व संरक्षण मिला। हालांकि इन ईसाई संस्थाओं का पैसा निजी स्रोतों से ही आता था लेकिन इनको सार्वजनिक–निजी साझेदारी का उदाहरण इसलिए मानना चाहिए चूंकि साझेदारी केवल वित्तीय आधार पर ही नहीं होती है। उसका राजनीतिक आधार भी होता है। इस संदर्भ में मैकॉले की शिक्षा नीति में ईस्ट इंडिया कंपनी के कारोबार को बढ़ाने और ब्रिटिश सत्ता को स्थापित करने का जो आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक एजेंडा निहित था, उसमें और ईसाई मिशनरी स्कूलों के बीच एक अघोषित सामंजस्य था। इसीलिए इन स्कूलों को ब्रिटिश सत्ता के साथ 'साझेदारी' का एक विशिष्ट प्रकार का उदाहरण मानना सही लगता है।

प्र. – तो फिर शिक्षा के क्षेत्र में आज़ादी के बाद तथाकथित सार्वजनिक–निजी 'साझेदारी' के रूप में क्या परिवर्तन आए?

उ. – ऐसा माना जाता है कि आज़ादी के बाद शिक्षा का एजेंडा बुनियादी तौर पर संविधान से निकला, हालांकि संविधान का पालन कम हुआ, उल्लंघन ज्यादा हुआ। तब भी अनुच्छेद 45 में निहित आठवीं कक्षा तक सार्वभौमिक मुफ्त शिक्षा का एजेंडा लागू करने के कुछ कदम उठाने की रस्म अदायगी ज़रूर की गई। ब्रिटिश सरकार की तर्ज पर निजी संस्थानों को वित्तीय सहायता देने की नीति तेजी से आगे बढ़ी और इसके दायरे में केवल आठवीं कक्षा तक के स्कूल ही नहीं वरन् हाईस्कूल और हायर सेकेंडरी स्कूल भी आए। नई तालीम के बुनियादी विद्यालय तो पूरी तरह सहायता–प्राप्त यानी 'ग्रांट–इन–एड' विद्यालय बन गए जिसके चलते वे अपने मूल क्रांतिकारी ध्येय से ही भटक गए। सरकारी सहायता की बात डी.ए.वी. विद्यालयों और इसी प्रकार आज़ादी–पूर्व की जनपहल पर शुरू किए गए अन्य श्रेणियों के स्कूलों पर भी लागू होती है। मदरसों और ईसाई मिशनरियों के स्कूलों को भी बड़े पैमाने पर विभिन्न प्रकार के फार्मूलों में सरकारी सहायता दी गई। आम तौर पर सहायता–प्राप्त स्कूलों को शिक्षकों का पूरा वेतन अनुदान के रूप में दिया जाता था जो स्कूल के कुल सालाना खर्च का लगभग नब्बे फीसदी होता था। गौरतलब है कि सरकारी और गैर–सरकारी सहायता–प्राप्त स्कूलों में कोई खास फर्क नहीं बचा, सिवाय इसके कि सहायता–प्राप्त स्कूलों में प्रबंधन समिति का प्रावधान बना रहा।

सार्वजनिक–निजी साझेदारी के एक और मॉडल का जिक्र करना मौजूं होगा। कई प्रदेशों में निजी स्कूल वित्तीय या प्रबंधन संकट के कगार पर पहुंच गए। बिहार इसका एक बड़ा उदाहरण है। इनको संकट से उबारने के लिए बड़े पैमाने पर जमीन व भवन समेत उनका अधिग्रहण किया गया। कहीं–कहीं पर सरकार ने उनके निजी चरित्र का आदर करते हुए उनकी प्रबंधन समिति को भी मान्यता दे दी। लेकिन ये स्कूल हर प्रकार से सरकारी नीति के हिसाब से ही चले। ऐसी 'साझेदारी' इतने बड़े पैमाने पर हुई है कि आज इन सहायता–प्राप्त और अधिग्रहित स्कूलों के बगैर पूरी स्कूल व्यवस्था चरमरा जाएगी। इसी प्रकार उच्च शिक्षा के क्षेत्र में भी निजी महाविद्यालयों को सहायता–प्राप्त बना देना अथवा उनको वित्तीय संकट से उबारने के लिए अधिग्रहित कर लेना एक स्थापित नीति बन गई है। ये सब सार्वजनिक–निजी साझेदारी के जनहित की दृष्टि से सकारात्मक उदाहरण माने जा सकते हैं हालांकि इनकी व्यवस्था में विकेंद्रीकृत और समुदाय–आधारित प्रबंधन एवं संतुलित स्वायत्तता का नज़रिया न होना कालांतर में घातक सिद्ध हुआ।

प्र. – इस मसले पर कोठारी आयोग का क्या नजरिया था?

उ. – कोठारी आयोग की सन् 1966 में जारी रपट में सहायता–प्राप्त स्कूलों का विशेष उल्लेख है। समान स्कूल प्रणाली की बात करते हुए रपट ने सरकारी और गैर–सरकारी सहायता–प्राप्त स्कूलों में कोई अंतर नहीं किया है यानी दोनों श्रेणी के स्कूल समान स्कूल प्रणाली के प्रमुख स्तंभ होंगे। उस समय के मौजूद मुट्ठीभर सहायता–विहीन निजी स्कूलों के बारे में आयोग का निहितार्थ था कि अभिजात वर्ग के ये स्कूल कोई महत्वपूर्ण भूमिका अदा नहीं करेंगे चूंकि जब समान स्कूल प्रणाली के तहत सरकारी और सहायता–प्राप्त स्कूलों की गुणवत्ता में समतामूलक मापदंडों व मानकों के आधार पर सुधार आएगा तो किसी को भी अपने बच्चों को अभिजात महंगे स्कूलों में भेजने की जरूरत ही महसूस नहीं होगी। स्पष्ट है कि नवउदारवादी दौर के पहले साठ के दशक की राजनीतिक अर्थव्यवस्था में आयोग के लिए यह सोच पाना संभव हुआ कि भारत में स्कूली शिक्षा सहायता–विहीन महंगे निजी स्कूलों के बगैर दी जा सकती है लेकिन उसमें सरकारी स्कूलों के साथ–साथ सहायता–प्राप्त निजी स्कूलों यानी सार्वजनिक–निजी साझेदारी की महत्वपूर्ण भूमिका रहेगी। इसी संदर्भ में आयोग की सन् 1986 तक शिक्षा में सालाना खर्च सकल राष्ट्रीय उत्पाद के 6 फीसदी तक बढ़ाने और फिर उसे बरकरार रखने की सिफारिश को याद करना ज़रूरी होगा। इसके बगैर आयोग की समान स्कूल प्रणाली को समतामूलक स्कूली शिक्षा और राष्ट्रीय एकजुटता का जरिया बनाने की समग्र दृष्टि बेमानी हो जाती है। नवउदारवाद का हमला कोठारी आयोग की इसी समग्र दृष्टि पर ही था, यह हमें समझना होगा।

प्र. – आपकी बात सुनकर तो लगता है कि शिक्षा में उस दौर की 'ग्रांट–इन–एड' या अधिग्रहण की नीति पर आधारित सार्वजनिक–निजी साझेदारी जनहित में थी। लेकिन आज 'साझेदारी' की जो अवधारणा उभर रही है उसको लेकर देशभर में विरोध के स्वर उठ रहे हैं। आप स्वंय इस विचार के सख्त आलोचक हैं। तो उस समय की 'साझेदारी' और आज की 'साझेदारी' में क्या बुनियादी फर्क है?

उ. – भारी फर्क है। आज़ादी के आंदोलन के दौरान और उसके बाद अस्सी के दशक तक निजी पूंजी से जो शैक्षिक संस्थान शुरू किए गए उनमें मोटे तौर पर प्रमुख प्रेरणा राष्ट्रीय व सामाजिक हित की थी। मुनाफा कमाने का उद्देश्य तो कतई नहीं था, कम–से–कम ऐसी संस्थाओं के ज़रिए तो सीधे मुनाफा कमाने की बात शायद ही कोई पूंजीपति

सोचने की जुर्रत करता होगा। दरअसल, उस दौर में सरकार के स्तर पर भी शिक्षा को सामाजिक विकास का साधन माना जाता था, न कि मानव संसाधन के विकास का जरिया या बाजार की वस्तु[5]। हां, यह अलग बात है कि ऐसी संस्थाओं को स्थापित करके पूंजीपतियों ने काफी यश कमाया और जनता में व्यापक विश्वसनीयता भी पाई। उदाहरण के लिए टाटा समूह[6] द्वारा शुरू किए गए टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ़ फ़ंडामेंटल रिसर्च (मुंबई), टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ़ सोशल साइंस (मुंबई) एवं इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ़ साइंस (बंगलूर) और बिड़ला समूह द्वारा बिड़ला इंस्टीट्यूट ऑफ़ टेक्नालॉजी एंड साइंस (पिलानी) की बात लें। जैसा मैं पहले भी कह चुका हूं, इनसे टाटा और बिड़ला समूहों को उनके कारोबार को फैलाने एवं उत्पादों की बिक्री का परोक्ष लाभ ज़रूर मिला होगा। लेकिन इन संस्थानों से सीधे मुनाफा कमाने का तो सवाल ही नहीं उठता था। इसी प्रकार ईसाई मिशनरियों के स्कूलों अथवा मदरसों ने चाहे धर्म की साख बढ़ाई हो लेकिन वहां भी मुनाफा कमाने की बात सोची भी नहीं गई। यही बात ब्रिटिश अभिजात परंपरा में चलनेवाले दून स्कूल जैसे तथाकथित पब्लिक स्कूलों पर भी लागू होती है।

अस्सी के दशक के दौरान और उसके बाद वैश्वीकृत अर्थव्यवस्था के कदम बढ़ने के साथ–साथ इस परिस्थिति में तेजी से बदलाव आया है।

---

[5]भारत में मानव संसाधन विकास को शिक्षा का पर्याय मानने का पहला सार्वजनिक संकेत तब मिला जब सन् 1985–86 में प्रधानमंत्री राजीव गांधी के शासनकाल में केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय का नाम बदलकर मानव संसाधन विकास मंत्रालय कर दिया गया। इसे महज नाम परिवर्तन मानना राजनीतिक नासमझी होगी। दरअसल, यह भारत में शिक्षा को बाजार की वस्तु बनाने और निजीकरण–बाजारीकरण की नवउदारवादी नीति की शुरूआत का एलान था।

[6]टाटा समूह ने निश्चित ही एक दूरदृष्टि से काम किया। इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ़ साइंस (बंगलुरु) के शुरूआती रूप की कल्पना तो 19वीं सदी के अंतिम दशक में ही कर ली गई थी। इसके लिए ब्रिटिश सरकार और मैसूर के महाराजा का पूरा सहयोग प्राप्त कर लिया गया था। सन् 1909 में सरकार ने इसकी स्थापना के लिए अधिसूचना भी जारी कर दी थी। इसी प्रकार गणित और भौतिकी में शोध हेतु सन् 1945 में मुंबई में एक छोटी सी पहलकदमी की जो आज़ादी के बाद तेजी से भारत सरकार के सहयोग से नाभकीय शोध के लिए टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ़ फ़ंडामेंटल रिसर्च (मुंबई) के रूप में मशहूर हुई और देश में परमाणु ऊर्जा के विकास की बुनियाद बनी। इसके चलते जे.आर.डी. टाटा और भारत के प्रथम प्रधानमंत्री नेहरू के करीबी संबंध जगजाहिर हुए। दिलचस्प तथ्य यह है कि पचास के दशक की शुरूआत से ही इन दोनों संस्थानों का पूरा खर्च भारत सरकार उठा रही है (दरअसल ये सरकारी संस्थान ही हैं) लेकिन जनमानस में ये आज तक टाटा समूह के नाम से ही जुड़े हुए हैं, खासकर मुंबई की टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ़ फ़ंडामेंटल रिसर्च। निजी पूंजी द्वारा राष्ट्रीय हित के नाम पर अपना हित साधने में 'राज्य' के चतुर इस्तेमाल की यह अद्भुत मिसाल है।

नवउदारवादी वित्तीय पूंजी और पूर्व की औद्योगिक पूंजी के चरित्र के फर्क को समझना ज़रूरी है। वैश्वीकरण को पुराने सिकुड़ते हुए बाजार और प्राकृतिक संसाधनों की सिमटती हुई उपलब्धता से पूंजी के लिए पैदा हुए संकट का परिणाम माना जाता है। अतः पूंजीवाद ने इस संकट से उबरने के लिए नए बाजारों की खोज शुरू की। इसके लिए अमरीकी व ब्रिटिश प्रभुत्व में विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष जैसी पूंजीवाद की प्रतिनिधि एजेंसियों का गठन किया गया जिनका प्रमुख उद्देश्य वैश्विक पूंजी के लिए नया बाजार खड़ा करना है, चाहे उसके लिए इंसानियत को ही खत्म करने की कीमत क्यों न चुकानी पड़े। इस हेतु जो रणनीति बनाई गई उसी को मोटे तौर पर नवउदारवादी नीति[7] कहा जाता है। इस नीति के दो ज़रूरी पहलू हैं। पहला, राष्ट्र–राज्यों की अवधारणा को बढ़ते क्रम में शिथिल करना ताकि विभिन्न देशों के बाजारों पर वैश्विक पूंजी का एकाधिपत्य स्थापित किया जा सके। दूसरा, इस पूंजी का दुनियाभर के, खास कर एशिया, अफ्रीका और लातिनी अमरीका के गरीब देशों के, प्राकृतिक संसाधनों व सामाजिक–सांस्कृतिक ज्ञान पर पूरा वर्चस्व स्थापित करना। जब उक्त शर्तें पूरी होंगी तभी तो वैश्विक पूंजी को पूरी दुनिया के बाजार के निर्बाध दोहन और शोषण के अवसर मिलेंगे। अमरीका द्वारा अफ़गानिस्तान व इराक पर हाल में किए गए आक्रमणों को इस नज़रिए से देखने से वैश्विक पूंजी के अघोषित एजेंडे को समझने में मदद मिलती है। जिस पूंजी के अस्तित्व के लिए लगातार नए बाजार ढूंढना, खोलना और उन्हें लूटना तथा विभिन्न देशों के संविधान व कानूनों में हस्तक्षेप करना ज़रूरी है, उसमें लोकतांत्रिकता, पारदर्शिता और मानवीयता जैसे मूल्यों के लिए जगह कैसे हो सकती है? आज ओड़िशा, छत्तीसगढ़ और महाराष्ट्र में सेज़ का जन–विरोधी एजेंडा आगे बढ़ाने के लिए जिस तरह संविधान व लोकतंत्र के तमाम मूल्यों को नष्ट किया जा रहा है एवं उस पर राजनीतिक दलों की जो चुप्पी है, उसने वैश्वीकरण के सभी चिकने–चुपड़े व लुभावने दावों की पोल खोल दी है। इस नवउदारवादी पूंजी के लिए तो इंसान का मानस, संस्कृति, भावनाएं, मनोरंजन और पारिवारिक समय भी मुनाफे का ज़रिया है। जिस तरह से विगत दो दशकों में इलैक्ट्रॉनिक मीडिया ने हमारे घर–परिवारों के अंदर घुसपैठ करके आपसी रिश्तों, संवाद और फुर्सत के समय को भी टी.आर.पी. बढ़ाने का ज़रिया बना लिया है, इससे कोई शक नहीं रह जाना चाहिए कि नवउदारवादी पूंजी की मुनाफे के लिए बेतहाशा दौड़

---

[7]नवउदारवादी नीति का व्यवस्थित निरूपण नब्बे के दशक में घोषित दस–सूत्री 'वाशिंगटन कन्सेंसस' में पाया जाता है।

किस हद तक क्रूरता, संवेदनहीनता और छल–कपट की हदें पार कर चुकी है। अतः जो थोड़ी–बहुत जनहित की 'साझेदारी' आज़ादी के बाद के दशकों में संभव थी वह आज खुली लूट और साजिश का रूप ले चुकी है। जो लोग और एनजीओ नवउदारवादी पूंजी के इस चरित्र को समझने से इंकार करते हुए शिक्षा के निजीकरण व बाजारीकरण और तथाकथित सार्वजनिक–निजी 'साझेदारी' की पैरवी करते हैं, उनके साथ किन आधारों पर संवाद किया जाए?

प्र. – आपने थोड़ी देर पहले कोठारी आयोग का जिक्र किया था जिसने शिक्षा का निजीकरण किए बगैर पूरे देश को सार्वजनिक धन से समर्थित स्कूली व उच्च शिक्षा व्यवस्था के ज़रिए शिक्षित करने की दृष्टि दी थी। लेकिन आज देश के राजनैतिक दलों, नीति निर्माताओं और अधिकांश बुद्धिजीवियों व एनजीओ के विमर्श में आयोग की उस दृष्टि की बात तो छोड़िए, इसकी संभावना तक पर विचार करने की तैयारी नहीं दिख रही। आज शिक्षा को महज बाजार के लिए मानव संसाधन बनाने का जरिया मान लिया गया है। ये हालात कैसे बने?

उ. – यह विषय मेरे शोध, चिंतन और सामाजिक कर्म का केंद्र बिंदु रहा है, इस पर अंग्रेजी व हिंदी में मेरे कई निबंध और आलेख भी छपे हैं। इन हालात के बनने के मैं दो दौर देखता हूं। पहला दौर, 1970 के दशक में शुरू हुआ और दूसरा दौर 1990 के दशक में। सत्तर के दशक तक मध्यमवर्ग समेत अधिकांश बच्चे सरकारी स्कूल प्रणाली में ही शिक्षा पा रहे थे यानी अमीर और गरीब, अधिकारी या चपरासी, सेठ या मजदूर, राजनेता या आम नागरिक सभी के बच्चे आम तौर पर एक ही स्कूल परिसर में पढ़ते थे, मुट्ठीभर निजी स्कूलों की बात छोड़कर। लगभग इसी समय अंग्रेजी माध्यम की शिक्षा की तलाश में मध्यमवर्ग ने सरकारी स्कूल से पलायन शुरू किया। इसका कारण सरकारी स्कूलों की गुणवत्ता कम होना कतई नहीं था वरन् शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी न होना था। आज़ादी के बाद शिक्षित वर्ग में उम्मीद बनी थी कि अब भारत में देश की विभिन्न भाषाओं को न्यायपालिका, नौकरशाही, उद्योग–व्यापार, उच्च व तकनीकी शिक्षा, शोध, नियोजन और विभिन्न पेशों में यथोचित स्थान मिलेगा जो ब्रिटिश राज में नहीं मिल पाया। लेकिन सत्तर का दशक आने तक यह स्पष्ट हो गया कि भारत का उच्च–वर्गीय और उच्च–वर्णीय शासकवर्ग अंग्रेजी के वर्चस्व में लेशमात्र भी कमी नहीं आने देगा। इसी वर्चस्व के चलते तो शासक वर्ग अर्थव्यवस्था का अपने पक्ष में दोहन कर पाता है। भारतीय भाषाओं को समकालीन दुनिया की ज़रूरतों के अनुसार सशक्त

करने के भी कोई कारगर कदम नहीं उठाए जाएंगे, यह भी साफ दिख रहा था। अतः अंग्रेजी माध्यम और बढ़ती हुई प्रतिस्पर्धा पर टिके हुए कैरियरों की तलाश में यह पलायन अस्सी के दशक तक महापलायन का रूप ले चुका था। मध्यमवर्ग की मांग को पूरा करने के लिए बाजार के नियम के अनुसार निजी स्कूल कुकुरमुत्तों की तरह खुलने लगे। नवउदारवादी दौर के पहले ही निजी पूंजी को इस नए शिक्षायी बाजार का चस्का लग गया था। इस महापलायन का सीधा असर सरकारी स्कूलों की गुणवत्ता पर पड़ा चूंकि समाज के जिस तबके की राजनीतिक गलियारों तक पहुंच थी और आवाज़ उठाने की ताकत थी, जब वह सरकारी स्कूल में नहीं रहेगा तो स्वाभाविक है कि गुणवत्ता में गिरावट आएगी।

प्र. – देश की भाषा नीति और स्कूली शिक्षा के निजीकरण–बाजारीकरण के बीच का यह रिश्ता निःसंदेह मेरे ध्यान में पहली बार आया है। इस पर व्यापक बहस और शोध की ज़रूरत से इंकार नहीं किया जा सकता। और अब नब्बे के दशक का दूसरा दौर?

उ. – दूसरे दौर के बीज तो सन् 1986 की शिक्षा नीति में ही रोप दिए गए थे। नीति बनने के पहले ही सरकार ने शिक्षा मंत्रालय का नाम बदलकर मानव संसाधन विकास मंत्रालय करके अपने इरादे का संकेत दे दिया था (देखिए फुटनोट क्र. 5)। इस नीति में घोषणा हुई कि 6–14 आयु समूह के आधे बच्चों को नियमित स्कूल नहीं दिया जाएगा। उनके लिए औपचारिकेतर या नॉन–फ़ॉर्मल केंद्रों की एक घटिया परत सरकारी स्कूल के नीचे बिछाई गई। इसके अलावा मुट्ठीभर बच्चों के लिए उम्दा गुणवत्ता के नवोदय विद्यालयों की एक परत सरकारी स्कूलों के ऊपर बिछाई गई। नॉन–फ़ॉर्मल केंद्रों में नियमित शिक्षक की जगह अर्हता–विहीन, प्रशिक्षण–विहीन और कई गुना कम वेतन पर निर्देशक ठेके पर नियुक्त किए गए। यह शुरूआत थी बहु–परती शिक्षा नीति की।

अपने पूरे रूप में दूसरा दौर सन् 1991 में नई आर्थिक नीति के साथ शुरू हुआ। भारत सरकार के सामने विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष ने कर्ज और अनुदान के लिए शर्त रखी। इस शर्त का नाम था संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम। इसके तहत सरकार के लिए यह अनिवार्य हो गया कि वह आनेवाले वर्षों में शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे सामाजिक क्षेत्र में खर्च घटाए। विडंबना यह है कि जिस महाशक्ति के प्रभुत्व में विश्व बैंक काम करता है उस अमरीका में सार्वजनिक धन से चलनेवाली उम्दा गुणवत्ता की मजबूत सरकारी स्कूल व्यवस्था का एक

लंबा इतिहास है। वह देश जब अपने अनुभव से ठीक विपरीत शर्त भारत पर थोपता है तो यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि विश्व बैंक की असली मंशा क्या थी। स्पष्ट है कि जब भारत के सरकारी स्कूलों में धन उपलब्ध नहीं कराया जाएगा तो शिक्षा की गुणवत्ता में गिरावट आएगी। तो फिर विश्व बैंक का हमारे स्कूलों में गिरावट लाने में क्या निहित स्वार्थ है? इसका एक ही उत्तर है। जब गिरावट आएगी तो गरीब बच्चों के मां–बाप भी अपने बच्चों को सरकारी स्कूलों से निकालेंगे और उनके लिए विकल्प तलाशेंगे। जैसे सत्तर के दशक में मध्यमवर्ग के द्वारा पलायन करने पर महंगे निजी स्कूलों का बाजार खुला, ठीक उसी प्रकार नब्बे के दशक में गरीब बच्चों के लिए भी कम फीसवाले घटिया गुणवत्ता के स्कूलों का बाजार शुरू होगा, यह विश्व बैंक पहले से ही जानता था। ठीक यही हुआ और देखते–देखते सरकारी स्कूलों की नब्बे के दशक के अंत तक जनता में विश्वसनीयता तेजी से गिरी। रही–सही कसर बहु–प्रचारित सर्व शिक्षा अभियान ने पिछले आठ सालों में पूरी कर दी। तभी तो आधे–से–अधिक बच्चे आज भी आठ साल की प्रारंभिक शिक्षा से वंचित हैं और दलित, आदिवासी, अति–पिछड़े व मुस्लिम बच्चों, खासकर इन्हीं समुदायों की लड़कियों, में यह आंकड़ा दो–तिहाई तक पहुंच जाता है। शिक्षा में सामाजिक, सांस्कृतिक और भाषाई भेदभाव का संरचनात्मक संकट पहले के मुकाबले कहीं अधिक गहरा गया है।

संरचनात्मक समायोजन की शर्त का परिणाम यह निकला कि सन् 1991–92 से लेकर सन् 2005–06 तक, बीच के केवल दो वर्षों को छोड़कर, सकल राष्ट्रीय उत्पाद के प्रतिशत के रूप में शिक्षा में निवेश 4 फीसदी से लगातार घटता गया और 3.5 फीसदी तक पहुंच गया। यह इसके बावजूद हुआ कि वर्तमान संप्रग सरकार के सन् 2004 में गठन के बाद शिक्षा पर 2 फीसदी उपकर लगाकर हजारों करोड़ की अतिरिक्त राशि बटोरी गई और सर्व शिक्षा अभियान का लगभग 35 फीसदी धन विश्व बैंक, डी.एफ.आई.डी. और अन्य अंतर्राष्ट्रीय संस्थानों से आया। साफ है कि सरकार शिक्षा के प्रति अपनी संवैधानिक जवाबदेही से लगातार पीछे हटती गई। 'राज्य' की भूमिका घटाने और बाजार की भूमिका बढ़ाने की यह परिघटना नवउदारवाद के सैद्धांतिक खाके का अनिवार्य परिणाम है। इसका जिक्र 'वाशिंगटन कन्सेंसस' में है।

प्र. – यहां तक तो आपकी बात समझ में आती है कि सरकारी स्कूल व्यवस्था को ध्वस्त करना स्कूली शिक्षा के निजीकरण व बाजारीकरण के लिए ज़रूरी था। पर यह समझ में नहीं आता कि भारत जैसे विशाल

देश की लाखों स्कूलों की व्यवस्था में खर्च घटाने और गुणवत्ता गिराने के लिए क्या रणनीति अपनाई गई होगी?

उ. – यह एक अच्छा सवाल है जिसे नवउदारवाद के परिप्रेक्ष्य में बहुत कम लोगों ने समझने की कोशिश की है। सन् 1993 में स्कूली शिक्षा को ध्वस्त करने की जो रणनीति विश्व बैंक की पहल पर भारत में लागू की गई उसका नाम जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम (डीपीईपी) था। संक्षेप में इस रणनीति के तहत जो कदम उठाए गए वे इस प्रकार हैं –

- भारत के संविधान के अनुच्छेद 45 में 14 वर्ष की आयु तक मुफ्त शिक्षा देने का जो प्रावधान है उसके मायने कक्षा आठ तक की पूर्व–प्राथमिक और प्रारंभिक शिक्षा है। डीपीईपी ने इसे घटाकर महज 4 या 5 साल की प्राथमिक शिक्षा कर दिया। यानी गरीब बच्चों के जीवन में शिक्षा की प्रासंगिकता को और कम कर दिया जबकि ज़रूरत पूर्व–प्राथमिक स्तर से लेकर कक्षा 12 तक की शिक्षा सुलभ कराने की थी ताकि शिक्षा का रिश्ता उच्च व तकनीकी शिक्षा और 'काम की दुनिया' से जुड़ सके। डीपीईपी का यह संविधान–विरोधी एजेंडा[8] विश्व बैंक और यूनिसेफ द्वारा निरूपित 'मिलेनियम डेवलपमेंट गोल्स' की राजनीति से निकला है जिसे सरकार व अधिकांश एनजीओ ने संविधान को अनदेखा करते हुए अंगीकार कर लिया है।
- प्राथमिक स्तर पर भी शिक्षा की पाठ्यचर्या की जो समग्र दृष्टि रही है उसके अनुसार अपने विचारों को भाषा के जरिए अभिव्यक्त करने की क्षमता का बीजारोपण, गणित में तर्कशक्ति व अंतर्दृष्टि जैसे गुणों का विकास और पर्यावरण अध्ययन में अपने भौतिकीय, सामाजिक व सांस्कृतिक परिवेश को खोजने और समझने की वस्तुपरक पद्धति सीखना, उद्देश्य रहा है। इसी के साथ जोड़ते हुए एक लोकतांत्रिक, समतामूलक और धर्मनिरपेक्ष समाज के अनुरूप नागरिकता का निर्माण करना भी शिक्षा को दिशा देने का आवश्यक खाका बनाता है। इसके स्थान पर डीपीईपी में इस उद्देश्य को महज साक्षरता और कौशलों के संकीर्ण दायरे में सीमित करने की कोशिश

---

[8]संविधान और सुप्रीम कोर्ट के उन्नीकृष्णन फैसले (1993) के मद्देनज़र डीपीईपी तथा सर्व शिक्षा अभियान स्पष्ट तौर पर समानता, सामाजिक न्याय और सम्मानजनक जीवन जीने के मौलिक अधिकारों एवं अनुच्छेद 41, 45 व 46 एवं का उल्लंघन करते हैं। इसका विस्तृत विवेचन अन्यत्र किया गया है (देखिए मेरा आलेख 'नवउदारवाद और शिक्षा का अधिकार', विचार परिक्रमा, मई 2008, पृ. 6–15)।

की गई। इस हेतु न्यूनतम अधिगम स्तर (एमएलएल) की गैर–शिक्षायी अवधारणा को बिना किसी जांच–पड़ताल या ठोस सैद्धांतिक आधार के स्कूलों में लागू किया गया जिसके चलते शिक्षा की समग्रता को बाजार के अनुरूप दक्षताओं (कॉम्पीटेंसी) में विखंडित कर दिया गया। इससे पाठ्यचर्या की समग्रता खो गई और शिक्षा यंत्रवत् हो गई। बाजार के लिए बच्चों का मानस गढ़ने की यह एक सोची–समझी रणनीति थी।

- स्कूल की जगह उसके समानांतर घटिया दर्जे के नॉन–फॉर्मल सेंटर, वैकल्पिक स्कूल और शिक्षा गारंटी केंद्र (और इसी तर्ज पर सर्व शिक्षा अभियान में आगे बढ़कर ब्रिज कोर्स व 'स्कूल वापस चलो शिविर') खोले गए जिनमें 1986 की शिक्षा नीति में संसद द्वारा 'ऑपरेशन ब्लैकबोर्ड' के तहत तय किए गए मापदंडों को कमतर किया गया।
- उपरोक्त समानांतर धाराओं में नियमित शिक्षक की जगह कम अर्हतावाले, प्रशिक्षण–विहीन और 4–5 गुना कम वेतन पर ठेके पर अल्प अवधि के लिए पैरा–शिक्षक नियुक्त करने की नई परिपाटी शुरू की गई।
- 'ऑपरेशन ब्लैकबोर्ड' में प्रत्येक प्राथमिक शाला को कम–से–कम तीन शिक्षक और तीन कमरे देने का संकल्प संसद ने लिया था। इसके बावजूद डीपीईपी में बहु–कक्षायी अध्यापन ('मल्टीग्रेड टीचिंग') नामक फूहड़ मजाक किया गया जिसके तहत एक अकेले शिक्षक द्वारा एक ही कक्ष में इकट्ठे पांच कक्षाओं को पढ़ाने का अजीबोगरीब प्रशिक्षण दिया गया। क्या कोई राजनेता, नौकरशाह या किसी कंपनी का सी.ई.ओ. अपने बच्चे को ऐसे स्कूल में भेजेगा?

प्र. – कुल मिलाकर डीपीईपी से मिले सबक का लब्बोलबाब क्या है?

उ. – बात अकेले डीपीईपी की नहीं है – यह तो भारत की स्कूली शिक्षा में नवउदारवादी एजेंडे का प्रतीक बन गया है। मैंने पहले भी कहा था कि इस एजेंडे के बीज 1986 की शिक्षा नीति में दिखने लगे थे। सन् 1990 में जोमतियन (थाईलैंड) में विश्व बैंक, यू.एन.डी.पी., यूनेस्को एवं यूनिसेफ के संयुक्त तत्वावधान में 'सबके लिए शिक्षा' का विश्व सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन से जारी किया गया 'जोमतियन घोषणापत्र' वास्तव में स्कूली शिक्षा के क्षेत्र में नवउदारवादी एजेंडे का घोषणापत्र है। इसको पढ़कर डीपीईपी में जो हुआ उसका पूर्वानुमान लगाया जा सकता है। मैं

इस विषय पर अलग से लिख चुका हूं।[9] यहां इशारा भर काफी है। डीपीईपी का प्रमुख हिस्सा तो सन् 2002 तक समेट लिया गया था। लेकिन बगैर किसी स्वतंत्र व पारदर्शी मूल्यांकन के इसकी सारी विकृतियों का नए पैकेज बनाकर बाद में सर्व शिक्षा अभियान के नए लेबल से चलाया गया। यह पैकेज अभी भी चल रहा है। एक बात और। इस पूरे एजेंडे में भारत में जो कुछ हुआ उसका मोटे तौर पर तजुर्बा लातिनी अमरीका के कई मुल्क सत्तर के दशक में कर चुके थे। अब मैं आपके सवाल का जो उत्तर देने जा रहा हूं, वह इसी ऐतिहासिक व अंतर्राष्ट्रीय परिप्रक्ष्य में है।

डीपीईपी के कारण एक ओर शिक्षा में खर्च व गुणवत्ता घटाना संभव हुआ और दूसरी ओर समतामूलक गुणवत्ता की शिक्षा देने की संवैधानिक दृष्टि को दरकिनार करते हुए पूर्व की दोहरी शिक्षा व्यवस्था को बहु–परती शिक्षा व्यवस्था में बदल दिया गया। हरेक सामाजिक तबके के लिए उसकी हैसियत के अनुसार स्कूलों की एक अलग परत बिछा दी गई ताकि वह उसकी जाति, संस्कृति, भाषा और वर्ग द्वारा तयशुदा सांचे में ही रहे, उसे तोड़कर बाहर निकलकर समाज में अपना न्यायोचित स्थान न मांग सके। इसके अलावा लोकतांत्रिक समाज बनाने के शिक्षा के बहुआयामी ध्येय को डीपीईपी ने (और बाद में सर्व शिक्षा अभियान ने) महज साक्षरता और कौशलों में समेट दिया। स्कूलों में न समानता रही और न गुणवत्ता – यानी शिक्षा भी न रही। अंततः सरकारी स्कूल गरीब तबके के काम का भी नहीं रहा। गरीब बच्चे भी सरकारी स्कूल छोड़ने लगे। नीतिगत कारणों को जानने और सुधारने की जगह सरकार ने तर्कसंगतिकरण की दुहाई देते हुए सरकारी स्कूलों को बंद करना और उनकी कीमती परिसंपत्तियों को व्यापारिक उपयोग के लिए निजी पूंजी को सौंपते हुए अपनी संवैधानिक जवाबदेही से पल्ला झाड़ना शुरू किया। फलतः, घटिया दर्जे के निजी स्कूलों का नया बाजार स्थापित हुआ।[10]

---

[9]देखिए मेरा आलेख, 'डाईल्यूशन, डिस्टॉर्शन एंड डायवर्ज़न – ए पोस्ट–जोमतियन रिफलेक्शन ऑन दी एज्युकेशन पॉलिसी', दी क्राइसिस ऑफ़ एलिमेंट्री एज्युकेशन इन इंडिया (संपादन : रवि कुमार), सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2006, पृ. 92–136.

[10]नवउदारवादी एजेंडे की पैरवी करने वाली और वित्तीय पूंजी से पोषित अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों को शायद इसी मौके का इंतज़ार था। तुरत–फुरत दिल्ली के उत्तरी शहादरा में एक अध्ययन आयोजित किया गया। इस अध्ययन की रिपोर्ट (जेम्स टूली एवं पॉलीन डिक्सन का आलेख 'प्राइवेट स्कूल्स सर्विंग दी पूअर', व्यूप्वांईट 8, सेंटर फ़ॉर सिविल सोसायटी, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष इंगित नहीं) उत्तरी शहादरा (दिल्ली) में सरकारी स्कूल प्रणाली में आई कथित 'गिरावट' के चलते घटिया दर्जे के निजी स्कूलों के नए बाजार के उभरने पर खुशी का इजहार करते हुए पूरी भारतीय शिक्षा को नवउदारवादी नीति की इस 'महान सफलता' का

इसके जरिए शिक्षा के उद्देश्य, उसकी सामाजिक परिवर्तन में भूमिका और उसमें निहित ज्ञान का चरित्र – सब बाजार के हवाले कर दिया गया। गांधी, टैगोर, कृष्णामूर्ती और गिजूभाई के शिक्षायी विमर्शों की समृद्ध परंपरा भी खत्म हो गई। राधाकृष्णन आयोग, मुदालियर आयोग और कोठारी आयोग की शिक्षा में व्यवस्थामूलक परिवर्तन की दूरदृष्टि की जगह डीपीईपी और सर्व शिक्षा अभियान जैसी तदर्थ व अल्प–अवधि की स्कीमों ने ले ली। मैकडोनाल्ड के 'आई एम लविंग इट' वाले व्यंजनों की तर्ज पर शिक्षा भी तरह–तरह की स्कीमों का बाजार बन गई जिनका 'मेन्यु' बाजार की बदलती हुई ज़रूरतों के अनुसार बदला जा सकता है। इस अफ़रा–तफ़री में संविधान के मूल ढांचे से निकले शैक्षिक व्यवस्था के परिवर्तन के एजेंडे के लिए कोई गुंजाईश ही नहीं बची। इस सुनियोजित नवउदारवादी हमले के सामने 'राज्य' बचाव की मुद्रा में आ गया और वित्तीय एकाधिकारी पूंजी, शिक्षा पर हावी हो गई। असली विडंबना यह है कि साम्राज्यवाद के खिलाफ भारत में लड़ी गई आज़ादी की लंबी लड़ाई के दौरान निर्मित मूल्यों व जनता की आकांक्षाओं के सार–स्वरूप यानी संविधान के ध्वस्त होने से भी भारत में न कोई सामाजिक सरोकार बना, न बौद्धिक सरोकार और न ही राजनीतिक सरोकार। 'वाशिंगटन कन्सेंसस' से निकले नवउदारवाद का यही असली एजेंडा था।■

पीपीपी में निजी पूंजी का का जांचा–परखा
तीन–सूत्री फार्मूला

सार्वजनिक शिक्षा को हथियाने के लिए उसे,

1. पहले **बर्बाद करो**;
2. फिर **बदनाम करो**; और
3. तब कौड़ियों के मोल **बिकवाओ**!

संदेश देती है – महज इस गैर–वैज्ञानिक बानगी और परिप्रेक्ष्य–विहीन अध्ययन के आधार पर। लेकिन यह रिपोर्ट कहीं नहीं बताती कि सरकारी स्कूलों में कथित 'गिरावट' आने का इतिहास क्या है और उसमें नवउदारवादी नीति की क्या भूमिका है। जाहिर है कि यह रिपोर्ट अपने या अपने मालिकों के खेल पर से पर्दा क्यों उठाएगी।

शिक्षा के लिए पैसों की कमी : एक नवउदारवादी मिथक

प्र. – सार्वजनिक–निजी साझेदारी के पक्ष में सरकार जितने तर्क देती है उनमें शायद सबसे जोर से पैसे की कमी वाला तर्क देती है। अगर इस तर्क में सच्चाई है तो फिर निजी पूंजी से मदद लेना न्यायोचित हो जाता है। आपको इस बारे में क्या कहना है?

उ. – दरअसल, सरकार के पास धन की कमी वाला तर्क 'साझेदारी' के संदर्भ में सबसे लचर तर्क है। एक प्रसंग याद आता है। अक्तूबर 2004 में केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ('केब') द्वारा 'माध्यमिक शिक्षा के सर्वव्यापीकरण' पर गठित समिति की पहली बैठक राजस्थान सरकार के शिक्षा मंत्री की अध्यक्षता में शुरू होने वाली थी। समिति के सदस्य और सी.बी.एस.ई. के अध्यक्ष डॉ. गांगुली ने ध्यानाकर्षण बिंदु उठाते हुए कहा कि हम जो भी अनुशंसा करें उसमें ध्यान रखें कि सरकार के पास धन की कमी ('रिसोर्स क्रंच') है। मैंने भी तुरंत ध्यानाकर्षण बिंदु उठाते हुए डॉ. गांगुली से पूछा कि उनके पास अपने इस दावे के पक्ष में क्या आंकड़े हैं। डॉ. गांगुली को ऐसे सवाल की उम्मीद नहीं थी। उन्होंने कहा कि यह तो सर्वविदित तथ्य है, इसके लिए आंकड़ों की क्या ज़रूरत है। मैंने भी मासूम बनते हुए कहा कि यह तथाकथित 'तथ्य' मुझे नहीं मालूम, अतः बेहतर होगा कि डॉ. गांगुली अपने दावे को समिति के सामने सिद्ध करें, अन्यथा मेरा उनसे अनुरोध है कि दोबारा ऐसा आधारहीन दावा न करें। बात वहीं खत्म हो गई और जून 2005 तक चली छह बैठकों में फिर कभी यह दावा किसी सदस्य ने नहीं किया। फलतः समिति की रपट में अनुशंसा की गई कि हरेक माध्यमिक स्कूल (कक्षा 9 से 12 तक) में केंद्रीय विद्यालयों के मापदंड और मानक लागू किए जाएं और इसके लिए ज़रूरी धन का अनुमान लगाकर सर्वव्यापीकरण हेतु चरणबद्ध वित्तीय योजना पेश की गई। उसके बाद भी यह पता चला कि अनुमानित वित्तीय ज़रूरत सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 6 फीसदी (कोठारी आयोग द्वारा अनुशंसित और 1986 की नीति में स्वीकृत राशि) लगाने से पूरी हो जाती है।

तो फिर सवाल है कि सब बच्चों को समतामूलक गुणवत्ता की स्कूली शिक्षा देने के लिए कितना धन चाहिए। सन् 1999 में कक्षा 1 से 8 तक की मुफ्त प्रारंभिक शिक्षा का मौलिक अधिकार देने के लिए आवश्यक

अतिरिक्त धन का अनुमान तपस मजूमदार समिति ने लगाया था। समिति की रपट के अनुसार सन् 1999–2000 से लेकर अगले 10 सालों में कुल 1,37,000 करोड़ रुपए की अतिरिक्त ज़रूरत पड़ेगी। भीमकाय दिखने वाली यह राशि भारत जैसे विशाल मुल्क के लिए आखिरकार कितनी बड़ी थी? यह औसतन 13,700 करोड़ रुपए का सालाना अतिरिक्त खर्च था जो भारत के तत्कालीन सकल राष्ट्रीय उत्पाद का महज 0.86 फीसदी था यानी देश की सालाना आमदनी के हर 100 रुपए में से महज 86 पैसे। इसके बावजूद सरकार ने कह दिया कि इतना धन देना संभव नहीं होगा। बात टल गई।

सन् 2005 में 'केब' द्वारा शिक्षा के मौलिक अधिकार के मुद्दे पर गठित समिति ने फिर नए सिरे से अनुमान लगाया। याद रहे कि सन् 1999 से लेकर सन् 2006 तक तपस मजूमदार समिति द्वारा अनुशंसित अतिरिक्त निवेश करने से सरकार ने इंकार कर दिया था, अतः निवेश की वह खाई भी पाटनी ज़रूरी थी। इसलिए नए अनुमान के अनुसार सन् 2006–2007 से लेकर अगले 6 वर्षों में हर साल औसतन 72,740 करोड़ रुपए की अतिरिक्त ज़रूरत पड़ेगी जो तत्कालीन सकल राष्ट्रीय उत्पाद का अतिरिक्त 1.5 फीसदी था। उस समय सरकार पूरी शिक्षा पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद का केवल 3.5 फीसदी खर्च कर रही थी। इसका मतलब है कि यदि अतिरिक्त 1.5 फीसदी खर्च किया भी जाता तो भी शिक्षा पर किए जाने वाला खर्च सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 5 फीसदी ही होगा। तब भी सरकार ने कह दिया कि इतना अतिरिक्त खर्च नहीं किया जा सकता और इस निराधार तर्क के बहाने शिक्षा के मौलिक अधिकार का बिल संसद में पेश करने का मसला आज तक टाला हुआ है।

प्र. – प्रारंभिक शिक्षा के लिए आवश्यक धनराशि देने में सरकार द्वारा की जा रही आनाकानी के मद्देनज़र यह बताइए कि शिक्षा को मौलिक अधिकार का दर्जा मिलने से क्या फ़र्क पड़ना चाहिए?

उ. – इस संदर्भ में सुप्रीम कोर्ट के उन्नीकृष्णन फैसले (1993) को याद कर लेना सटीक होगा। सुप्रीम कोर्ट ने अनुच्छेद 45 को अनुच्छेद 21 से जोड़कर मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा को 14 वर्ष की उम्र तक (यानी पूर्व–प्राथमिक स्तर से कक्षा 8 तक) के सभी बच्चों का मौलिक अधिकार घोषित कर दिया। इसी आदेश में सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि 'राज्य' की वित्तीय क्षमता की कमी का तर्क इस आयु समूह के मौलिक अधिकार को सीमित करने के लिए कतई वैध नहीं माना जा सकता। अनुच्छेद 41 के

मद्देनज़र ऐसा तर्क केवल 14 वर्ष के बाद की उम्र के बच्चों की शिक्षा के लिए ही दिया जा सकेगा। इस मामले में तपस मजूमदार समिति (1999) की रिपोर्ट कहती है कि मौलिक अधिकार को "अपनी सहूलियत के अनुसार 'राज्य' टाल नहीं सकता . . . . .'राज्य' को इसके लिए हर हाल संसाधनों का आबंटन करना ही होगा, चाहे उसे ऐसा करने के लिए उन सभी खर्चों को काटना क्यों न पड़े जो उसको ज़रूरी लगते होंगे लेकिन वे संविधान द्वारा दिए गए मौलिक अधिकारों के तहत नहीं हैं।" चलिए, हम यहां ऐसे चंदेक मदों या खर्चों की सूची देते हैं जिनके लिए 'राज्य' विपुल संसाधन देता है लेकिन वे मौलिक अधिकार नहीं हैं। पहला, रिज़र्व बैंक द्वारा कुछ साल पहले जारी की गई 'नॉन–परफॉर्मिंग एसेट्स' की रिपोर्ट के अनुसार सरकार ने कई बड़े–बड़े कारपोरेट घरानों का बैंकों से लिया गया कर्ज माफ़ करने के लिए 45,000 करोड़ रुपए दिए। दूसरा, एक अनुमान के अनुसार सन् 2010 में होने वाले कॉमनवेल्थ गेम्स के लिए सरकार विभिन्न मदों से एक लाख करोड़ रुपए से आधिक खर्च करने वाली है। तीसरा, अभिजात् तबके और उच्च मध्यम वर्ग के विलासपूर्ण उपभोग को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार करमाफ़ी करती है और छिपी हुई सब्सिडी देती है। चौथा, महंगे निजी स्कूलों और कालेजों व विश्वविद्यालयों को मुफ्त या रियायती दरों पर जमीनें, आयकर की माफी, दानदाताओं को दान पर करमाफी, मां–बाप को फीस पर करमाफी, विद्यार्थियों को ऋण सुविधा एवं सार्वजनिक धन पर सेवापूर्व प्रशिक्षण–प्राप्त शिक्षकों की निजी स्कूलों में बगैर लागत लिए नियुक्ति जैसी सब्सिडियां दी जाती हैं। पांचवां, एकाधिकारी पूंजीपतियों को सेज़ के बहाने विभिन्न प्रकार के करों की छूट एवं अन्य परोक्ष सब्सिडियां व समर्थन देना सरकारी नीति बन चुकी है (दो साल पहले तक स्वीकृत सेज़ों पर ऐसी सब्सिडी की लागत लगभग दो लाख करोड़ रुपए आंकी गई थी)। उपरोक्त पांचों उदाहरणों में से एक भी मौलिक अधिकारों की श्रेणी में नहीं आता।

प्र. – तो फिर सरकार द्वारा धन की कमी का दावा क्यों किया जाता है?

उ. – अब आप ही बताएं कि सरकार के पास कहां है धन की कमी? आर्थिक सर्वे (2007–08) के आधार पर वर्ष 2008–09 में भारत का अनुमानित सकल राष्ट्रीय उत्पाद (बाजार कीमतों पर) 53 लाख करोड़ का होगा। मैंने पहले बता चुका हूं कि 'केब' की एक समिति द्वारा अनुमान लगाया गया था कि कक्षा 8 तक शिक्षा का मौलिक अधिकार

देने के लिए अगले छह साल तक हर साल औसतन 72,740 करोड़ रुपए की अतिरिक्त ज़रूरत पड़ेगी यानी सकल राष्ट्रीय उत्पाद में से अतिरिक्त 1.5 फीसदी की। वर्ष 2008–09 में अनुमानित 53 लाख करोड़ के सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 1.5 फीसदी 79,500 करोड़ रुपए होता है जो 'केब' समिति के अनुमान से ज्यादा है। **तो फिर सवाल धन की कमी का कतई नहीं है वरन् 'राज्य' की प्राथमिकताओं का है। सवाल केवल इतना ही है कि क्या 'राज्य' जनता के पक्ष में अपनी आर्थिक प्राथमिकताएं बदलने को तैयार है या नहीं।** विगत छह सालों से धन की कमी का नाटक करते हुए एन.डी.ए. और यू.पी.ए. दोनों की सरकारों ने शिक्षा के मौलिक अधिकार का बिल टालकर इस सवाल का जवाब नकारात्मकता में दे दिया है। गौरतलब है कि **धन की कमी के मिथक पर लड़खड़ाता यह जवाब भारत के संविधान से नहीं निकला है वरन् वाशिंगटन कन्सेंसस द्वारा दिए गए नवउदारवादी खाके से निकला है।** ■
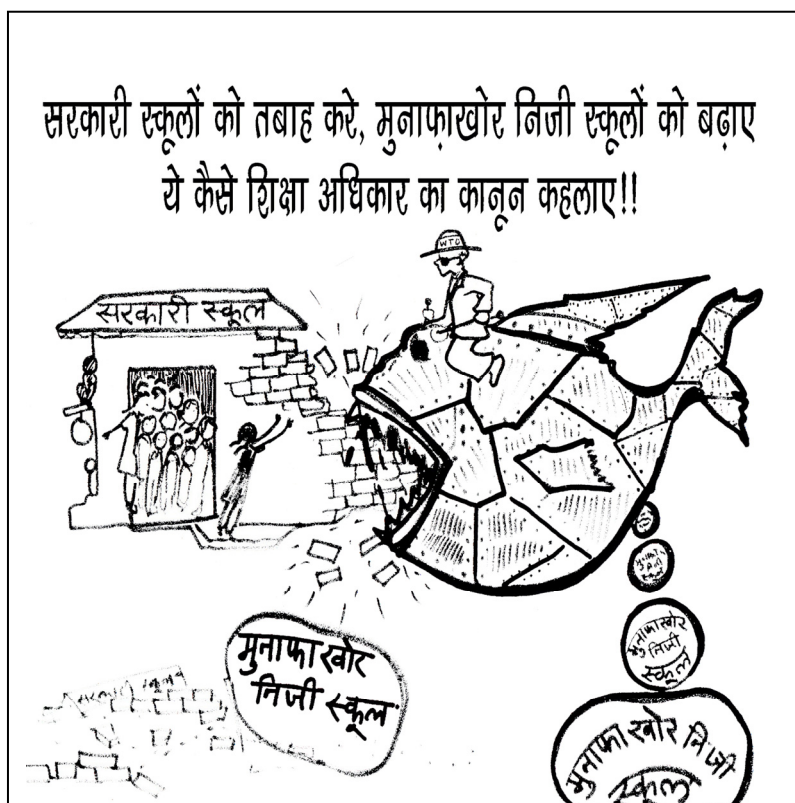
शैक्षिक उद्देश्यों, मूल्यों व पाठ्यचर्या पर बाजार का हमला

प्र. – शिक्षा में निजी निवेश के पक्षधरों का कहना है कि बाजार अपने–आप होड़ के सिद्धांत पर गुणवत्ता बढ़ाएगा चूंकि केवल उम्दा गुणवत्तावाली शिक्षा ही बिकेगी। इस दावे को शिक्षा के क्षेत्र में किस नज़रिए से देखा जाए? क्या बाजार द्वारा शिक्षा की गुणवत्ता निर्धारित करना आपके अनुसार सही सिद्धांत होगा?

उ. – इस मसले पर मुझे दो बातें कहनी हैं। पहली बात समझना आसान है। यह गलतफहमी है कि होड़ केवल निजीकृत स्कूली व्यवस्था में ही होती है और सरकारी स्कूलों में नहीं। बेशक, निजी स्कूलों के बीच की होड़ बाजार में अधिकतम मुनाफा कमाने के लिए होती है और गलाकाटू बन जाती है। इस होड़ में निजी स्कूल कारपोरेट शैली में एक–दूसरे के विद्यार्थियों और शिक्षकों तक को हड़पने के छल–कपटपूर्ण दांव–पेंच चलते हैं। इसके निंदनीय उदाहरण मौजूद हैं। ऐसी शिक्षा–विरोधी होड़ सरकारी स्कूलों में कभी नहीं होती और होनी भी नहीं चाहिए। लेकिन सरकारी स्कूलों के बीच दूसरी प्रकार की होड़ अवश्य चलती है जिसकी बुनियाद में अपने स्कूल को बेहतरीन स्कूल बनाने या एक उम्दा शिक्षक बनकर विद्यार्थियों और समाज का प्यार व विश्वास पाने जैसी अंतःप्रेरणा है। सत्तर और अस्सी के दशकों में हमने *होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम* के दौरान ग्रामीण क्षेत्र के दर्जनों सरकारी शिक्षकों को देखा है जो जी–तोड़ मेहनत करके शिक्षण पद्धति में सृजनात्मक नवाचार करते थे और कक्षा में उसकी जांच–परख करके शिक्षकों की मासिक गोष्ठियों में पेश करते थे जहां अन्य शिक्षक उसपर चर्चा करके सीखते थे। सन् 1979 में बिलासपुर (अब छत्तीसगढ़ में) में आयोजित एक शिक्षक सम्मेलन में शिक्षा सचिव ने इन शिक्षकों से पूछा कि उनकी प्रेरणा का आधार क्या है। जो जवाब मिला वह दर्ज करने योग्य है। उन्होंने कहा कि हमारे प्रशिक्षकों से हमें जो प्यार व इज्जत मिलती है उसी से प्रेरित होकर हम इतनी मेहनत करते हैं और बाद में बच्चों के चेहरों पर खुशी देखकर हमें सब कुछ मिल जाता है। पिछले 2–3 सालों में दिल्ली सरकार के स्कूलों के बीच कक्षा 10 की सी.बी.एस. ई. की परीक्षा में बेहतर परिणाम की चुनौती को लेकर जमकर आपस में होड़ हुई जिसके चलते इन सरकारी स्कूलों के परिणामों में अनुकरणीय सुधार हुआ है और अब वे निजी स्कूलों के परिणामों के तुल्य हो गए हैं।

लेकिन इन सरकारी स्कूलों में होड़ के पीछे पैसा कमाने का लोभ नहीं था वरन् एक अच्छे स्कूल के रूप में पहचान बनाने और उस उद्देश्य के लिए मेहनत करने की मजबूत इच्छाशक्ति थी। शायद तथाकथित 'मुक्त' बाजार और गलाकाटू होड़ के कट्टरवाद में पले–पोसे लोगों को इस मुनाफाविहीन लेकिन मानवीय आत्मसंतोष व अंतःप्रेरणा को मान्यता देने में दिक्कत आएगी लेकिन इस हकीकत को झुठलाया नहीं जा सकता।

प्र. – . . . . . . और होड़ के बारे में आपकी दूसरी बात क्या है?

उ. – दूसरी बात ज़रा जटिल है। बाजार की होड़ के चलते शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यचर्या का स्वरूप और आकलन के मापदंड विकृत हो जाते हैं या कर दिए जाते हैं। सब कुछ मुनाफे की दृष्टि से होता है जहां बच्चे, उनका सामाजीकरण और शिक्षा की सामाजिक परिवर्तन में भूमिका जैसे बुनियादी मुद्दे हाशिए पर धकेल दिए जाते हैं। इसके चलते पाठ्यचर्या (करीकुलम) और शिक्षाशास्त्र (पैडागॉजी) दोनों का सोचे–समझे तरीके से शिथलीकरण (डाईल्युशन) एवं विकृतिकरण (डिस्टॉर्शन) किया जाता है। इस नवउदारवादी परिघटना का काफी खुलासा मैं पहले ही डीपीईपी और सर्व शिक्षा अभियान के संदर्भ में कर चुका हूं जहां शिक्षा को इस तरह तोड़ा–मरोड़ा गया कि वह साक्षरता एवं कौशलों का पर्याय बन गई। इसका सीधा असर गरीब वर्ग पर होता है। ऐसा करने से एक पंथ दो काज हो गए। इससे एक ओर पिछड़े वर्गों एवं पिछड़े वर्णों वाली जनता – यानी भारत की दो–तिहाई जनता – अभिजात् और मध्यम वर्गों के साथ होड़ के काबिल नहीं रह गई। साक्षरता एवं कौशलों के सहारे मेहनतकश जनता वैश्विक बाजार के उत्पादों के लेबल व विज्ञापन पढ़कर महज उपभोक्ता ही बन सकेगी या फिर कारखानों में उत्पादन–संबंधी निर्देशों को पढ़कर वित्तीय एकाधिकारी पूंजी के लिए बेहतर उत्पादन करेगी। इसके विपरीत महंगे निजी स्कूलों में पढ़ने वाले अभिजात् और मध्यम वर्गों के लिए उच्च व तकनीकी शिक्षा के दरवाजे खुले रहेंगे जिसके जरिए वे वित्तीय एकाधिकारी पूंजी के लिए वैश्विक स्तर पर ज्ञान उत्पादन का काम करेंगे और इसके लिए उन्हें ऊंचे वेतनमान दिए जाएंगे। फिर यह वर्ग तथाकथित 'मुक्त' बाजार और गलाकाटू होड़ की वाहवाही करने में बढ़–चढ़कर हिस्सा लेगा। यही नवउदारवादी होड़ और ज्ञान अर्थव्यवस्था का मॉडल है – यानी होड़ का दायरा सीमित करना जिसके चलते मुनाफे के बंटवारे में हिस्सेदारी भी सीमित रहेगी और ज्ञान के उत्पादन पर भी वित्तीय एकाधिकारी पूंजी का वर्चस्व बना रहेगा।

प्र. – क्या आप यह कह रहे हैं कि बाजार की होड़ के कारण महंगे निजी स्कूलों में पढ़ने वाले अभिजात् और मध्यम वर्गों की पाठ्यचर्या और शिक्षाशास्त्र पर कोई नकारात्मक असर नहीं पड़ता? डीपीईपी और सर्व शिक्षा अभियान के जिक्र से लगता है कि नकारात्मक असर केवल सरकारी स्कूलों तक सीमित रहता है। क्या आपका आशय यही था?

उ. – नहीं, मैं ऐसा कतई नहीं कह रहा हूं। अभी तक तो मैंने केवल शिक्षा में तथाकथित 'खुली' होड़ के जरिए भारत की दो–तिहाई जनता को अर्थव्यवस्था के हाशिए पर ढकेलने की नवउदारवादी साजिश का जिक्र किया था। अब आगे बढ़िए। बाजार की होड़ के कारण महंगे निजी स्कूलों की पाठ्यचर्या और शिक्षाशास्त्र का भी बढ़ते क्रम में निरर्थीकरण हो रहा है। सभी विषयों को बाजार के लिए ज़रूरी दक्षताओं के नज़रिए से देखने, पढ़ाने और उन्हीं बाजारोन्मुख मापदंडों के आधार पर आकलन करने की प्रवृत्ति महंगे निजी स्कूलों में तेजी से फैल रही है। जो स्कूल ऐसा करते हैं उनकी बाजार में कीमत भी उसी अनुपात में बढ़ती है (यानी वे फीस बढ़ाकर ज्यादा मुनाफा कमा सकते हैं), चाहे इसके चलते बाजार शिक्षा का पर्याय क्यों न बन जाए। इसके कारण मानवीय मूल्य, इतिहास बोध, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, तार्किक सोच, वैश्विक सौहार्द व शांति, जनहित में सृजन, अधिकारों के लिए संघर्ष की हिम्मत, अपने विचार अभिव्यक्त करने की क्षमता, सवाल उठाने और असहमत होने की गुंजाईश, लोकतांत्रिक हिस्सेदारी के लिए सामाजीकरण आदि अनेक शैक्षिक आयाम हैं जो पाठ्यचर्या के बाहर किए जा रहे हैं।[11] बाजार को ऐसे सार्वभौमिक शैक्षिक आयामों की कतई ज़रूरत नहीं है। वैश्विक बाजार की ताकतें यह भी जानती हैं कि इन आयामों पर टिकी पाठ्यचर्या वित्तीय एकाधिकारी पूंजी के विकास में अवरोध भी बन सकती है। अब तो भारत का नवउदारवादी 'राज्य' भी बाजार की इसी राह पर चल पड़ा है।

प्र. – क्या महंगे निजी स्कूलों की पाठ्यचर्या और शिक्षाशास्त्र पर बाजार के असर के कोई उदाहरण देंगे?

उ. – इसके दो उदाहरणों पर गौर कीजिए। नर्सरी या के.जी. के नाम से चल रही पूर्व–प्राथमिक स्तर की शिक्षा की दुर्गति को देखिए।

---

[11] इसका कतई यह आशय नहीं है कि वर्तमान पाठ्यचर्या में ये शैक्षिक आयाम मौजूद हैं। लेकिन इनके पक्ष में लोकतांत्रिक लड़ाई चलती रहती है जिसकी बाजार में कोई गुंजाईश नहीं है।

पांच–पांच हजार की मासिक फीस लेनेवाले इन स्कूलों में बचपन और उस पर आधारित शिक्षण पद्धति एवं इस संवेदनशील उम्र में शिक्षण के लिए ज़रूरी सांस्कृतिक व भाषाई आधार का जिस तरह मज़ाक बनाया जाता है, उसने शिक्षाशास्त्र के सभी सिद्धांत तोड़े हैं। शायद ही नर्सरी या के.जी. की कुकुरमुत्तों की तरह उग रही दुकानों के मालिकों ने गिजुभाई बधेका के बाल शिक्षाशास्त्र का नाम भी सुना होगा, उसे पढ़ना और समझना तो दूर की कौड़ी है। किसी भी नर्सरी या के.जी. के बाहर खड़े होकर बच्चों द्वारा जोर–जोर से गाई जा रही अमरीका या ब्रिटेन से आयातित अंग्रेजी 'राईमें' सुनिए। बाजार के लिए रोबोटनुमा उपभोक्ता समाज की नींव यहीं से डाली जा रही है। बच्चों की अपनी मातृभाषा में मजबूत अभिव्यक्ति को कुचलकर यह भी सुनिश्चित किया जा रहा है कि वे अपनी सामाजिक–सांस्कृतिक हकीकत से कटते हुए नवउदारवाद के गुलाम बनें, न कि लोकतंत्र के चिंतनशील, जिम्मेदार और असहमति प्रकट करने व लड़ने का साहस रखनेवाले नागरिक बनें।

दूसरा उदाहरण मैं कंप्यूटर और सूचना प्रौद्योगिकी शिक्षा के बारे में फैलाए जा रहे शैक्षिक अंधविश्वास का दूंगा। हम जानते हैं कि आज यह प्रौद्योगिकी एक आवश्यक भूमिका निभा रही है और इसका ज्ञान सभी बच्चों को उपलब्ध होना चाहिए, गरीब से गरीब बच्चे को भी। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि आप आंख मूंदकर शिक्षाशास्त्रीय सिद्धांतों को ताक पर रखकर सूचना प्रौद्योगिकी को पाठ्यचर्या पर थोपें। इसका यह मतलब भी नहीं है कि सूचना प्रौद्योगिकी को ज्ञान, मूल्यों और कौशलों के शिक्षण का प्रमुख स्रोत मानने एवं उसको शिक्षक की जगह स्थापित करने का भ्रम पाला जाए। आप ही बताएं कि क्या पाठ्यचर्या को समृद्ध बनाने के लिए सूचना प्रौद्योगिकी है या फिर सूचना प्रौद्योगिकी की कंपनियों को समृद्ध करने के लिए पाठ्यचर्या है? बढ़ते क्रम में विभिन्न राज्य सरकारों ने कंप्यूटर कंपनियों को पाठ्यचर्या निर्धारण में निर्णायक भूमिका दे दी है। इन कंपनियों द्वारा बनाए गए सॉफ्टवेयर के पैकेज बगैर किसी स्वतंत्र शिक्षाई समीक्षा के स्कूलों में (निजी और सरकारी दोनों में) धड़ल्ले से शामिल किए जा रहे हैं जिसका खर्च विद्यार्थियों से वसूला जा रहा है। क्या ये पैकेज 'केब' द्वारा स्वीकृत राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 के सिद्धांतों पर आधारित हैं? क्या इन कंपनियों ने सीखने–सिखाने की प्रक्रिया में बच्चों द्वारा ज्ञान निर्माण के अधुनातन

सिद्धांत और सांस्कृतिक विविधता की भूमिका को मानकर पैकेज तैयार किए हैं? यदि किए होते तो एक ही पैकेज कच्छ से कोहिमा तक और लद्दाख से लक्षद्वीप तक के स्कूलों के लिए तैयार नहीं किया जाता।[12] लेकिन वैश्विक बाजार को विविधता की कतई ज़रूरत नहीं है, उसे तो मानकीकृत उपभोक्ता समाज की दरकार है ताकि एक ही उत्पाद को पूरी दुनिया में बेचा जा सके। यह बाजार पेरेंट्स डे, फ्रेंडशिप डे, बर्थडे और वेलेंटाइन डे के जरिए रिश्तों और भावनाओं का भी मैकडोनाल्डीकरण कर रहा है। ऐसे बाजार में चल रही होड़ से जो पाठ्यचर्या और शिक्षाशास्त्र निकलेगा उसमें न तो बच्चों द्वारा ज्ञान निर्माण एवं विविधता के लिए कोई जगह होगी और न ही लोकतंत्र एवं मानवीय मूल्यों के लिए।■

---

[12]वैसे तो ठीक यही आलोचना एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा तैयार की गई पाठ्यपुस्तकों की भी है चूंकि वे भी पूरे भारत के लिए लिखी जाती हैं। इस खास मायने में एन.सी.ई.आर.टी. की पाठ्यपुस्तकें भी कंप्यूटर कंपनियों की तरह एन.सी.ई.आर.टी. ही के द्वारा तैयार की गई राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 के सिद्धांतों का मखौल उड़ाती हैं। लेकिन बाजार और एन.सी.ई.आर.टी. के बीच एक बुनियादी फर्क को समझना ज़रूरी है। बाजार बगैर किसी लोकतांत्रिक जनादेश के संचालित होता है और जनता एवं जनहित के प्रति इसकी कोई जवाबदेही नहीं होती। इसलिए नवउदारवाद में बाजार का विरोध करने की लोकतांत्रिक गुंजाईश कतई नहीं है। बावजूद इसके जन आंदोलन बाजार के खिलाफ़ अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करते हैं और अपने लिए गुंजाईश बनाते हैं। इसके विपरीत एन.सी.ई.आर.टी. पूरी तौर पर लोकतांत्रिक जनादेश के प्रति जवाबदेह है और गलत दिशा में जाने पर इसका विरोध करना हरेक नागरिक का न केवल अधिकार है बल्कि कर्त्तव्य भी है। गौरतलब है कि 'राज्य' के बदलते चरित्र के साथ–साथ एन.सी.ई.आर.टी. का चरित्र भी नवउदारवादी बनना एक अनिवार्य परिणति है।

साक्षात्कार – खंड पांच

वाउचर स्कूल : संवैधानिक जवाबदेही का बाजारीकरण

प्र. – आजकल वाउचर प्रणाली की बड़ी चर्चा है। इसको 11वीं पंचवर्षीय योजना में भी शामिल किया गया है। यह विचार कहां से आया और इसके अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर क्या अनुभव हैं? आपके विचार में भारत की स्थिति में इसको लागू करने के क्या फायदे–नुकसान होंगे?

उ. – स्कूल वाउचर का विचार सबसे पहले सन् 1955 में नवउदारवाद के अमरीकी गुरु और अर्थशास्त्र में नोबल पुरस्कार विजेता (1976) प्रो. मिल्टन फ्रीडमैन ने दिया। इस विचार की जड़ें प्रो. फ्रीडमैन के नेतृत्व में विकसित नवउदारवादी अर्थशास्त्र के लिए जाने–माने 'शिकागो स्कूल' के आर्थिक दर्शन में हैं जो वित्तीय एकाधिकारी पूंजी पर टिके तथाकथित 'मुक्त' बाजार की होड़ पर आंख–मूंदकर आस्था रखनेवाला और 'राज्य' की जनहित की भूमिका को सीमित करनेवाला दर्शन है। उन्होंने और उनकी पत्नी एवं सह–लेखिका रोज़ फ्रीडमैन ने फ्रीडमैन फ़ाउंडेशन स्थापित की, जिसके जरिए दुनियाभर में स्कूल वाउचर की जबर्दस्त पैरवी की गई है। नवंबर 2006 में उनके निधन के बाद भी यह पैरवी उसी तर्ज पर जारी है।

स्कूल वाउचर क्या है? स्कूल वाउचर बच्चों के मां–बाप (अभिभावक) को सरकार द्वारा दिया गया एक तयशुदा कीमत का कूपन है जिसको लेकर वे अपने मनपसंद स्कूल (सरकारी और निजी दोनों) में अपने बच्चे को भर्ती करा सकते हैं और वह स्कूल सरकार को कूपन देकर उसे भुना सकता है। इस विचार के समर्थकों के अनुसार वाउचर के कारण स्कूल चुनने का अधिकार मां–बाप को मिल जाता है जिसके चलते उनका सशक्तिकरण होता है। स्कूल के लिए पैसा तब भी सरकार से ही आएगा लेकिन स्कूल संचालन का काम सरकार नहीं करेगी। वाउचर के पैरवीकार इसके जो फायदे गिनाते हैं उनमें से चंदेक इसप्रकार हैं –

- मां–बाप स्कूल का चयन बच्चे की रुचि या ज़रूरत के अनुसार करते हैं, चाहे वे कहीं भी रहते हों या फिर उनकी आय कितनी भी कम क्यों न हो।
- चूंकि वाउचर को सरकारी और निजी दोनों प्रकार के स्कूलों में भुनाया जा सकता है, इसलिए उनके बीच होड़ होगी और दोनों की गुणवत्ता में सुधार आने की संभावना बढ़ जाती है। जो स्कूल बेहतर

बनेगा उसमें बच्चे (नवउदारवादी भाषा में 'ग्राहक') अधिक आएंगे और जो नहीं सुधरेगा उसे बंद होना पड़ेगा।

- गरीब और निम्न मध्यम वर्ग अपने बच्चों को बेहतर गुणवत्ता के महंगे निजी स्कूलों में पढ़ा पाएगा जो वाउचर के बगैर उनकी आर्थिक औकात के बाहर थे। इससे शिक्षा में बराबरी बढ़ेगी।
- सभी श्रेणी के स्कूलों में नवाचार, पाठ्यचर्या में लोच और विद्यार्थियों में सामाजिक–सांस्कृतिक विविधता बढ़ेगी।
- निजी स्कूलों की संख्या में तेजी से विस्तार होगा जिसके चलते शिक्षा की उपलब्धता बढ़ जाएगी।

ये दावे कहां तक सही हैं, यह जानने के पहले हम इस विचार के 11वीं पंचवर्षीय योजना में शामिल होने के इतिहास पर बात कर लें। आपको याद होगा कि सन् 2004–05 में केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ('केब') ने शिक्षा पर विचार करने के लिए सात समितियों का गठन किया था – पांच स्कूली शिक्षा और दो उच्च व तकनीकी शिक्षा के विभिन्न पहलुओं पर। इन समितियों ने अपनी रिपोर्टें जून 2005 में 'केब' को पेश कर दीं। इनमें शिक्षा के वित्तीय मसलों पर कई दूरगामी महत्व की अनुशंसाएं थीं। गौरतलब है कि इनमें से एक भी समिति ने स्कूल वाउचर का नाम तक नहीं लिया यानी सात समितियों के कुल मिलाकर देश के जाने–माने लगभग 100 शिक्षाविदों व अन्य बुद्धिजीवियों को वाउचर का विचार अनुशंसा के लायक नहीं दिखा। इनके अलावा हरेक समिति ने कई शिक्षक संगठनों, विशेषज्ञों, सामाजिक कार्यकर्ताओं और सांस्कृतिक कर्मियों से सलाह–मशविरा किया एवं शिक्षा नीति से संबंधित राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय दस्तावेजों का भी अध्ययन किया। इस व्यापक मंथन से भी वाउचर का विचार नहीं निकला। अंततः इन सातों रिपोर्टों पर पूरी 'केब' की बैठक में लंबी चर्चा हुई जिसमें सभी राज्यों के शिक्षा मंत्री और शीर्षस्थ केंद्रीय शैक्षिक संस्थानों के प्रमुख मौजूद थे। किसी ने एक बार भी वाउचर का नाम नहीं लिया। इसके बावजूद केवल डेढ़ साल बाद दिसंबर 2006 में योजना आयोग के 11वीं पंचवर्षीय योजना के 'एप्रोच पेपर' में इसका जिक्र आ गया।

आखिरकार, नीति निर्माण की एक तयशुदा लोकतांत्रिक प्रक्रिया होती है जिसमें सरकार को शिक्षा की नीतिगत सलाह देने में 'केब' का सबसे ऊंचा स्थान रहा है। तो फिर वाउचर नाम की चिड़िया अगली पंचवर्षीय योजना के 'एप्रोच पेपर' में कहां से और किस रास्ते से घुस आई? जहां तक मेरी जानकारी है, वाउचर की भारत में पैरवी करने का काम केवल

एक एनजीओ करती है जिसका वित्तपोषण एवं अन्य प्रकार का समर्थन अमरीका और अन्य ताकतवर पूंजीवादी देशों में नवउदारवादी विचारधारा का प्रचार–प्रसार करने वाली कई अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियां करती हैं। देखिए, कितनी आसानी से वाउचर के विचार को नीति में शामिल करने की ऐसी निहायत गैर–पारदर्शी (लगभग गोपनीय) और तदर्थ प्रक्रिया को 'केब' की लोकतांत्रिक (पूरी तौर पर नहीं लेकिन काफ़ी हद तक) प्रक्रिया पर थोपा जा सकता है। इसलिए यह अहम सवाल भी उठना ही चाहिए कि क्या नवउदारवाद के चलते भारत का लोकतंत्र इसी तरह कदम–दर–कदम कमज़ोर किया जाएगा। दरअसल, यह भारत की संप्रभुता का सवाल है।

प्र. – आपने तो वाउचर की बात करते–करते बड़े राजनीतिक सवाल खड़े कर दिए। आपने इस विचार की कड़ी नवउदारवादी अर्थशास्त्र से जोड़कर इसके खतरों की ओर भी इशारा कर दिया है। लेकिन इसका गुणगान तो बिलकुल व्यावहारिक स्तर पर गाया जा रहा है। खबर है कि आंध्र प्रदेश और राजस्थान की सरकारों ने हाल में बगैर किसी पारदर्शी प्रक्रिया के वाउचर प्रणाली लागू करने का फैसला भी कर लिया है। आपने भी उन दावों का जिक्र किया है जो किए जा रहे हैं। क्या आप यह बताएंगे कि इसका अंतर्राष्ट्रीय अनुभव क्या हैं।

उ. – ज़रूर। स्कूल वाउचर का सबसे बड़ा प्रयोग लातीनी अमरीका के दो देशों – चिली और कोलंबिया – में हुआ है। अमरीका में मिलवॉकी (विस्कॉन्सिन राज्य) और क्लीवलैंड (ओहायो) इसके बहुचर्चित उदाहरण हैं। ब्रिटेन में नर्सरी स्तर पर इसका अल्पकालीन तजुर्बा है। इन देशों में वाउचर प्रणाली के अलग–अलग मॉडल लागू किए गए हैं। आस्ट्रेलिया और हांगकांग (चीन) में इसके उपयोग की संभावना पर विचार हुआ है। वाउचर के अनुभव और भी चंदेक मुल्कों में हैं लेकिन मैंने जिनका जिक्र किया है उनके शोध–आधारित अध्ययन मैंने देखे हैं। मैं इन अध्ययनों का सार पेश करूंगा जिनके आधार पर वाउचरों के संभावित फायदों के दावों की भी जांच–पड़ताल हो जाएगी।

पहले चिली की बात करें जहां इसका प्रयोग सन् 1980 में शुरू हुआ और सबसे पुराना है। यहां वाउचर प्रणाली पूरे देश में लागू है और सभी बच्चों को वाउचर दिए जाते हैं। सरकारी स्कूलों में भी पढ़ने के लिए वाउचरों का इस्तेमाल होता है ताकि वे भी निजी स्कूलों के साथ होड़ में शामिल हों – इसके मायने हैं कि आम तौर पर **सरकारी स्कूलों को वाउचर से मिलने वाली आय के अलावा सरकार से अन्य कोई सहायता नहीं मिलती।** चिली के अनुभव से कई उल्लेखनीय तथ्य निकले हैं –

- बेहतर गुणवत्ता के सरकारी और निजी दोनों श्रेणी के स्कूलों की संख्या में विस्तार हुआ हालांकि यह अवलोकन नगरीय क्षेत्रों तक ही सीमित है। वाउचर प्रणाली लागू होने के 13 साल बाद सन् 1993 में ग्रामीण क्षेत्रों में स्कूलों की उपलब्धता बढ़ाने के लिए सरकार को वाउचर की कीमत बढ़ाने के लिए मजबूर होना पड़ा ताकि निजी पूंजी को आकर्षित किया जा सके।
- निजी स्कूलों में विद्यार्थियों के गणित और भाषा (स्पैनिश) के टेस्ट स्कोर सरकारी स्कूलों की तुलना में थोड़ा बेहतर थे। लेकिन कई शोधों से पता चला कि इस अंतर का असली कारण है कि निजी स्कूल वाउचरों के बावजूद भर्ती के समय भेदभाव करते हैं – उन बच्चों को चुनते हैं जिनके मां–बाप अधिक शिक्षित होते हैं या जिनका सामाजिक–आर्थिक दर्जा ऊंचा है। भर्ती के समय कथित तौर पर 'बेहतर' स्कूल (खासकर निजी स्कूल) मां–बाप का साक्षात्कार करते हैं, प्रवेश परीक्षा लेते हैं और बच्चों पर ऊंचे टेस्ट स्कोर बरकरार रखने के लिए भारी दबाव बनाते हैं। वाउचर भी गरीब बच्चों को बेहतर स्कूल चुनने का हक नहीं दिला सका चूंकि साक्षात्कार का इस्तेमाल इस श्रेणी के बच्चों को बाहर रखने के लिए किया गया। गरीब बच्चों को बाहर रखने के लिए निजी स्कूलों ने अन्य तरीकों का भी इस्तेमाल किया – जैसे जटिल दर्ज प्रक्रिया, वाउचर की कीमत के ऊपर अतिरिक्त फीस लेना, कड़क स्कूली नियम, महंगी यूनिफ़ार्म आदि।
- एक शोध से पता चला कि वाउचर प्रणाली लागू होने के बाद बड़ी तादाद में बच्चों का सरकारी स्कूलों से निजी स्कूलों की ओर स्थानांतरण हुआ लेकिन निजी स्कूलों में 70 फीसदी बच्चे मध्यम और ऊंची आयवाले परिवारों के थे।
- एक अन्य शोध के अनुसार वाउचर प्रणाली लागू होने के बाद अगले आठ सालों में मध्यम और उच्च वर्गों के विद्यार्थियों के गणित और भाषा के टेस्ट स्कोर में सुधार आया लेकिन उसी दौरान शहरी और ग्रामीण दोनों क्षेत्रों में निम्न सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि के विद्यार्थियों के टेस्ट स्कोर में गिरावट आई। यहां तक कि विश्व बैंक द्वारा करवाए गए एक शोध से निकला कि यह गिरावट केवल सरकारी स्कूलों में पढ़ रहे गरीब तपके के विद्यार्थियों में ही नहीं वरन् निजी स्कूलों के गरीब विद्यार्थियों में भी आती है।
- निजी स्कूलों ने पढ़ाई में कमजोर, विकलांग और अन्य प्रकार से तंग करने वाले बच्चों (जैसे शरारती बच्चों) को भी भर्ती करने से इंकार

किया चूंकि उन्हें बेहतर टेस्ट स्कोर दिखाने थे ताकि वे ज्यादा विद्यार्थियों को आकर्षित करके अधिक वाउचर बटोर सकें और अपनी आय बढ़ा सकें। ऐसे सभी विद्यार्थी सरकारी स्कूलों में इकट्ठे हो जाते थे। तभी शायद सरकार को सन् 1993 में ऐसे सभी बच्चों के लिए वाउचर की कीमत बढ़ानी पड़ी यानी निजी स्कूलों को उन्हें भर्ती करने के लिए लालच देना पड़ा।

- चिली के अध्ययनों से एक चौंकानेवाला निष्कर्ष सामने आया है। **गहन शोध से सिद्ध हुआ कि दरअसल वाउचर वाले निजी स्कूल सरकारी स्कूलों के मुकाबले में बेहतर नहीं थे।** जब दोनों श्रेणी के स्कूलों में समान शैक्षिक और सामाजिक–आर्थिक स्तर के परिवारों के विद्यार्थियों के टेस्ट स्कोरों की तुलना की गई तो सरकारी स्कूलों के विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि निजी स्कूलों के विद्यार्थियों से बेहतर पाई गई। इन शोध परिणामों का अर्थ है कि **वाउचर वाले निजी स्कूल जानबूझकर निम्न शैक्षिक और सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि के परिवारों के बच्चों को घटिया शिक्षा देते हैं।**[13]

प्र. – कुल मिलाकर चिली के इस लंबे अनुभव से हम क्या सीख सकते हैं? भारत के लिए क्या सबक हैं?

उ. – चिली से भारत के लिए तीन प्रमुख सबक लिए जा सकते हैं–

पहला, वाउचरों के बावजूद विभिन्न कारणों से गरीब बच्चों या उनके मां–बाप को स्कूल चुनने का हक नहीं मिल पाता है। निजी स्कूल बच्चों का चयन करते हैं, न कि बच्चे या मां–बाप स्कूलों का। यानी वाउचर प्रणाली निजी स्कूलों का अभिजात् और मुनाफाखोर चरित्र नहीं बदल पाई।

दूसरा, वाउचर प्रणाली के कारण शिक्षा और शैक्षिक स्तर में गैर–बराबरी कम होने के बजाए बढ़ी है और सामाजिक–आर्थिक आधारों पर स्कूलों की श्रेणी के अनुसार बच्चों की छंटाई पूर्ववत होती रहती है।

तीसरा, इसका कोई सबूत नहीं है कि वाउचर प्रणाली के चलते चिली की कुल शैक्षिक गुणवत्ता में सुधार हुआ है। अमरीका के स्टैनफ़ोर्ड विश्वविद्यालय के प्रो. मार्टिन कॉनरॉय ने चिली की वाउचर प्रणाली पर विस्तृत शोध किया है। इस संदर्भ में उन्होंने अपने अध्ययन में लिखा

---

[13]पैरी,, टैरिन राउंड्स, 'थ्योरी मीट्स रिएल्टी इन दी एज्युकेशन वाउचर डिबेट – सम एविडेंस फ्रॉम चिली', *एज्युकेशन इकनॉमिक्स*, ग्रंथ 5, अंक 3, 1997.

है, **"चिली की सरकार ने स्कूली पाठ्यचर्या, शिक्षण गुणवत्ता या शैक्षिक प्रबंधन सुधारने की कोई कोशिश नहीं की चूंकि यह मान लिया गया था कि ऐसा सुधार स्कूलों के बीच होड़ बढ़ने के फलस्वरूप अपनेआप हो जाएगा।"**[14] लेकिन वाउचर प्रणाली के प्रणेता मिल्टन फ्रीडमैन द्वारा अपेक्षित परिवर्तन नहीं हुए। न तो नगर पालिकाओं ने और न ही अधिकांश निजी स्कूलों ने शैक्षिक स्तर सुधारने के लिए कोई विशेष कदम उठाए। निम्न आमदनी वाली नगर पालिकाओं के हालात तो खास तौर पर खस्ता रहे चूंकि उनके पास शैक्षिक सुधारों के लिए वित्तीय संसाधनों का सख्त अभाव था और वाउचरों के अलावा सरकार कोई और अनुदान नहीं देती थी। इन निष्कर्षों की पुष्टि अमरीका के जॉर्जिया विश्वविद्यालय में राजनीति विज्ञान की प्रो. टेरिन राउंड्स पैरी ने भी की है।[12]

प्र. – लातीनी अमरीकी देश कोलंबिया में वाउचर प्रणाली का अनुभव संक्षेप में बताइए।

उ. – सन् 1991–92 में शुरू किया गया कोलंबिया वाउचर प्रणाली का मॉडल चिली के फ्रीडमैन मॉडल से बिलकुल फ़र्क है। इसके तीन उद्देश्य थे –

1. प्राथमिक स्तर पर ऊंचे दर्ज अनुपात और माध्यमिक स्तर पर निम्न दर्ज अनुपात के बीच की खाई को पाटने के लिए निजी माध्यमिक स्कूलों की अतिरिक्त क्षमता का इस्तेमाल करना या उनकी क्षमता बढ़ाना ताकि सरकारी स्कूलों पर दबाव कम किया जा सके।
2. गरीब परिवारों के पास जो सीमित विकल्प थे उनको व्यापक बनाना जिससे उन्हें स्कूल चयन का हक मिले।
3. विभिन्न पृष्ठभूमि के विद्यार्थियों के बीच बराबरी को बढ़ाना।

इसको केवल शहरी क्षेत्रों में लागू किया गया। वाउचर केवल निजी स्कूलों में निम्न आमदनी वाले परिवारों के उपयोग के लिए थे। अपेक्षा यह थी कि जैसे–जैसे वाउचरों के कारण मांग बढ़ेगी वैसे–वैसे निजी माध्यमिक स्कूलों की संख्या भी बढ़ेगी। नगरपालिका के स्कूलों को सार्वजनिक धन पूर्ववत मिलता रहेगा। इस मायने में यह मॉडल सिद्धांत में सरकारी माध्यमिक स्कूलों के खिलाफ़ नहीं था हालांकि इसमें भी चिली की भांति सार्वजनिक धन के जरिए स्कूली शिक्षा का निजीकरण

---

[14]कॉर्नाय, मार्टिन, 'लेसंस ऑफ़ चिलेज़ वाउचर रिफॉर्म मूवमेंट', वेबलिंक http://www.rethinkingschools.org/SpecPub/sos/sosintl.htm.

करने का एजेंडा निहित था। इसीलिए इस प्रयोग को विश्व बैंक का आंशिक वित्तीय समर्थन मिला। इसको संचालित करने के लिए शिक्षा मंत्रालय और उसकी एक एजेंसी के अलावा एक बैंक भी शामिल रहा है। वाउचर वाले स्कूलों को सरकार द्वारा तय किए गए शैक्षिक मापदंडों एवं मानकों का पालन करना पड़ता था और उनका चयन भी नगरपालिका के ही हाथ में था।

वाउचर की कीमत इस तरह तय की जाती थी कि वह ऐसे निजी स्कूल की औसतन फीस के बराबर हो जहां निम्न से लेकर मध्यम आयवाले परिवारों से विद्यार्थी आते हैं। जिन निजी स्कूलों में फीस वाउचर की कीमत से ज्यादा थी वहां विद्यार्थी को अपनी जेब से अतिरिक्त पैसा देना पड़ता था लेकिन उसके सामने सरकारी स्कूल में पढ़ने का विकल्प हमेशा खुला रहता था। यह देखने में आया कि जिन स्कूलों की फीस वाउचर की कीमत तक थी उन्होंने इस प्रणाली में ज्यादा हिस्सा लिया। जिनकी फीस बहुत कम या बहुत ज्यादा थी वे आम तौर पर बाहर रहे। यदि किसी शहर में आबंटित वाउचरों की संख्या की तुलना में निजी स्कूलों में उपलब्ध जगह कम थी यानी आपूर्ति की तुलना में मांग ज्यादा थी तो सार्वजनिक तौरपर पारदर्शी 'रैफ़ल' या लाटरी के जरिए विद्यार्थियों का चयन होता था। इस तरह चिली मॉडल में स्कूलों द्वारा किए गए चयन में निहित अराजकता और भेदभाव से निजात मिल गई।

कोलंबिया मॉडल के बारे में चंदेक सवाल उठाए जा सकते हैं –

- सरकारी स्कूलों में जगह की कमी की समस्या का समाधान करने के लिए निजी स्कूलों की अतिरिक्त क्षमता का इस्तेमाल या नई क्षमता विकसित करने वाले उद्देश्य में कुछ हद तक सफलता ज़रूर मिली होगी, इसके सबूत हैं। लेकिन क्या यही उद्देश्य सरकार द्वारा नए स्कूल खोलकर या 'ग्रांट–इन–एड' की भारतीय तर्ज पर निजी स्कूलों को अनुदान देकर पूरा नहीं हो जाता? इसपर आपत्ति हो सकती है कि केंद्रीकृत प्रबंधन और नौकरशाही नियंत्रण के चलते कार्यकुशलता में गिरावट आती है। पर यह किसने कहा है कि सरकारी तंत्र के तहत विकेंद्रीकरण नहीं हो सकता? भारतीय संविधान में 73वें और 74वें संशोधन के तहत ऐसे विकेंद्रीकरण और जनभागीदारी पर आधारित प्रबंधन की जबर्दस्त गुंजाईश है जिसका समुचित उपयोग नहीं किया गया है।

- शोध से पता चला कि सरकारी और निजी स्कूलों की शैक्षिक गुणवत्ता में कोई खास फ़र्क नहीं है। तो फिर वाउचर प्रणाली की मुख्य मान्यता का क्या हुआ कि वाउचर की बदौलत होड़ होगी जिसके चलते दोनों श्रेणी के स्कूलों की गुणवत्ता में सुधार आएगा?
- अभिजात् स्कूल, वाउचर प्रणाली में शामिल नहीं हुए। शायद इसका प्रमुख कारण उनकी ऊंची फीस की तुलना में वाउचर की कीमत का काफी कम होना रहा होगा। ये महंगे स्कूल सरकारी तंत्र से दूर भी रहना चाहते थे। इस अनुभव के मद्देनज़र शैक्षिक भेदभाव को कम करने और शिक्षा में समानता बढ़ाने के उद्देश्य का क्या हुआ?

विगत कुछ सालों में कोलंबिया में वाउचर की कीमत को मुद्रास्फीति की दर के अनुसार बढ़ाया नहीं जा सका। इसका अर्थ है कि विद्यार्थियों को बढ़ते क्रम में अपनी जेब से पैसा भरना पड़ेगा और ऐसा न कर पाने की स्थिति में उनको स्कूल चयन का जो हक मिल गया था, वह उसी अनुपात में छिनता जाएगा। अंततः उनके लिए सरकारी स्कूलों का ही एकमात्र विकल्प बचेगा। इस संदर्भ में शोध–आधारित जानकारी उपलब्ध नहीं है।

प्र. – लातीनी अमरीका का जो आपने ब्यौरा दिया है उससे इस विवादस्पद मुद्दे को समझने में काफ़ी मदद मिलती है। चिली का वाउचर मॉडल पूरी तरह प्रो. फ्रीडमैन के सिद्धांतों पर आधारित था – वाउचर निजी और सरकारी दोनों श्रेणी के स्कूलों के लिए थे और देश भर में सभी बच्चों को दिए जाते थे – यानी बाजार की होड़ में सभी स्कूल शामिल थे। इसके विपरीत कोलंबिया के मॉडल में वाउचर केवल शहरी क्षेत्र के निजी स्कूलों के लिए थे और सबसे गरीब तबके को ही दिए जाते थे। यह दिलचस्प है कि इन दोनों वाउचर मॉडलों में स्कूल वाउचर कार्यक्रम से जिन फ़ायदों के दावे किए गए थे उनके पक्ष में शोध–आधारित अकाट्य सबूत नहीं मिले। क्या अमरीकी अनुभव इससे फ़र्क हैं?

उ. – नहीं, मोटे तौर पर वैसे ही हैं। मिलवॉकी (विस्कॉन्सिन राज्य) और क्लीवलैंड (ओहायो राज्य) के वाउचर कार्यक्रमों का सैद्धांतिक खाका कोलंबिया मॉडल के समान था यानी वाउचर केवल शहरी क्षेत्र के निजी स्कूलों के लिए थे और सबसे गरीब तबके को ही दिए जाते थे। मिलवॉकी का कार्यक्रम सन् 1990 में शुरू हुआ और अमरीका का सबसे पहला बड़ा वाउचर प्रयोग है। क्लीवलैंड का कार्यक्रम सन् 1995 में शुरू हुआ। दोनों कार्यक्रमों में सरकारी स्कूलों को मिलने वाला सरकारी

अनुदान जारी रहा, हालांकि मिलवॉकी में कुछ कटौती हुई जिसका जिक्र मैं बाद में करूंगा। इनके अनुभवों के बारे में कुछ शोध–आधारित बातें बताना चाहता हूं।

- वाउचरों के चलते निम्न आयवाले परिवारों की निजी स्कूलों तक पहुंच ज़रूर बढ़ जाती थी लेकिन इसका यह मतलब कतई नहीं लगाना चाहिए कि वाउचर प्रणाली के कारण कुल मिलाकर शिक्षा अधिक उपलब्ध हो गई। ऐसा निष्कर्ष तभी निकल सकता है जब उन आंकड़ों पर भी गौर किया जाए जो यह बताते हैं कि यदि वाउचर न होते तो सरकारी स्कूलों में उपलब्ध जगहें कितनी बढ़तीं या समान हालात वाले उन शहरों में कितनी बढ़ीं जहां वाउचर प्रणाली लागू नहीं थी।
- कोई सबूत नहीं मिला कि यदि समान शैक्षिक और आर्थिक स्तर एवं समान सामाजिक–सांस्कृतिक पृष्ठभूमि (जैसे अफ्रीकी–अमरीकी, हिस्पैनिक/स्पैनिश या एशियाई) के परिवारों से आए विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धियों (यानी टेस्ट स्कोर) की तुलना की जाए तो सरकारी स्कूलों व वाउचर वाले निजी स्कूलों के बीच कोई फ़र्क है। इसका मतलब है कि होड़ से गुणवत्ता सुधारने वाली परिकल्पना के पक्ष में शोध से सबूत नहीं मिले।
- देखने में आया है कि सरकारी स्कूलों की ऊंची कक्षाओं (कक्षा चार से कक्षा बारह तक) में पढ़नेवाले विद्यार्थी वाउचरों के वित्तीय आकर्षण के बावजूद अपने–अपने मूल स्कूलों को छोड़कर निजी स्कूलों में जाने को तैयार नहीं थे। यानी इन विद्यार्थियों या उनके मां–बाप के पास निजी स्कूलों को सरकारी स्कूलों से बेहतर मानने का कोई कारण नहीं था। इस संदर्भ में चिली के अध्ययन से निकले ऐसे ही निष्कर्ष को याद करना सटीक होगा। यह एक दिलचस्प अवलोकन है चूंकि वाउचर कार्यक्रम शुरू करने के पीछे तर्क दिया गया था कि आम लोगों में सरकारी स्कूलों के हालात को लेकर बेहद असंतोष है। भारत में भी वाउचर प्रणाली के पक्ष में मुख्यतः यही तर्क दिया जाता है।[15]

---

[15]इस संदर्भ में फुटनोट क्र. 10 देखिए जिसमें सेंटर फ़ॉर सिविल सोसायटी, नई दिल्ली, द्वारा प्रसारित जेम्स टूली एवं पॉलीन डिक्सन के गैर–वैज्ञानिक बानगी पर आधारित और परिप्रेक्ष्य–विहीन आलेख 'प्राइवेट स्कूल्स सर्विंग दी पूअर' का जिक्र है। इस आलेख में उत्तरी शहादरा (दिल्ली) में सरकारी स्कूल प्रणाली में आई कथित 'गिरावट' के चलते घटिया दर्जे के निजी स्कूलों के नए बाजार के उभरने पर खुशी का इजहार किया गया है, न कि इस परिघटना के कारणों को जानने–समझने का कोई सरोकार दिखाया है।

- वाउचरों के बावजूद स्कूल चयन का हक भी सीमित रहा। इसका प्रमुख कारण था कि महंगे स्कूल गरीब तबके की पहुंच के बाहर रहे चूंकि उनकी फीस वाउचर की कीमत से कहीं ज्यादा थी और वे वाउचर कार्यक्रम में शामिल ही नहीं होते थे। वाउचर से स्कूल चयन का हक केवल कम फीस वाले निजी स्कूलों में ही मिला। यहां भी यदि फीस वाउचर की कीमत से ज्यादा हुई तो गरीब मां–बाप को अपनी जेब से अतिरिक्त पैसे भरने पड़ते थे जिसके चलते उनका स्कूल चयन का हक प्रभावित होता था।
- वाउचरों के बावजूद शिक्षा में नस्ली व सामाजिक–सांस्कृतिक भेदभाव बरकरार रहा चूंकि यह पाया गया कि सरकारी स्कूलों और वाउचर वाले निजी स्कूलों के विद्यार्थियों में अफ्रीकी–अमरीकी, हिस्पैनिक/स्पैनिश व गोरे विद्यार्थियों का अनुपात नहीं बदला।
- वित्तीय दृष्टि से अस्थिर निजी स्कूल भी वाउचर के पैसों के लालच में वाउचर कार्यक्रम में शामिल हो जाते थे और उन्हें बीच सत्र में बंद होने के लिए मजबूर होना पड़ता था।

प्र. – आपने निश्चित ही चिली और कोलंबिया के समान मिलवॉकी और क्लीवलैंड के अनुभवों से भी वाउचर प्रणाली की बुनियादी मान्यताओं एवं फायदों के दावों पर कई महत्वपूर्ण सवाल खड़े कर दिए हैं। क्या भारत के लिए मिलवॉकी और क्लीवलैंड से कोई और नीतिगत सबक मिलते हैं जिनका आप जिक्र करना चाहेंगे?

उ. – हां, चंदेक सबक हैं जिनपर गौर करना चाहिए। मिलवॉकी और क्लीवलैंड दोनों में वाउचरों के लिए धन के दो स्रोत थे – राज्य सरकारों का आम राजस्व और इन दोनों शहरों की स्कूल व्यवस्था के लिए राज्य सरकारों द्वारा पहले से ही आबंटित राशि। मिलवॉकी की रिपोर्ट है कि इस नीति के चलते शहर के स्कूलों नाम पर आबंटित राशि में से वाउचरों के लिए की गई कटौती के कारण सरकारी स्कूलों की गुणवत्ता में गिरावट आने लगी। मिलवॉकी नगरपालिका ने इस गिरावट को रोकने के लिए संपत्ति कर बढ़ा दिए जिसका भार सभी नागरिकों पर पड़ा। एक और मुद्दा। क्लीवलैंड के अनुभव में एक खास बात थी जो मिलवॉकी में नहीं थी – क्लीवलैंड में वाउचर प्रमुखतः धार्मिक (ईसाई संप्रदाय के) स्कूलों को दिए गए यानी सरकारी धन से न केवल निजी स्कूलों को बढ़ावा दिया गया वरन् धार्मिक स्कूलों को भी। कहने की ज़रूरत नहीं है कि इस तथ्य के भारत के संदर्भ में गहरे राजनीतिक निहितार्थ हैं।

दरअसल, भारत में वाउचर प्रणाली को लेकर इसी प्रकार के अनेक नीतिगत सवाल हैं जिन पर, लोकतांत्रिक बहस की बात छोड़िए, अभी किसी भी स्तर पर विचार तक नहीं हुआ है। इतना भी सबूत नहीं है कि ऐसे सवालों को कहीं दर्ज भी किया गया है। चलिए, मैं एक मिसाल देता हूं। यदि फ्रीडमैन मॉडल के अनुसार वाउचरों को सरकारी स्कूलों के लिए भी लागू कर दिया गया तो सर्व शिक्षा अभियान व अन्य सरकारी स्कीमों के तहत जो धन मुहैया करवाया जा रहा है क्या उसे रोक दिया जाएगा? क्या मध्याह्न भोजन कार्यक्रम रोक दिया जाएगा या फिर इसे वाउचर वाले निजी स्कूलों में भी शुरू कर दिया जाएगा? यदि सरकारी और निजी स्कूलों के बीच होड़ के बावजूद शैक्षिक गुणवत्ता में सुधार नहीं हुआ या शिक्षा में भेदभाव खत्म नहीं हुआ (जैसा कि अंतर्राष्ट्रीय तजुर्बा है) तो क्या हम वापिस आज की नीति पर लौट आएंगे या फिर कोई और नीति पर विचार करेंगे? इस बीच उन करोड़ों बच्चों का क्या होगा जो वाउचर नाम की सार्वजनिक–निजी साजिश के शिकार हो चुके होंगे? ऐसे सभी सवालों को दरकिनार करके भारत में महज एक एनजीओ और चंदेक नवउदारवादी पैरवीकारों के दबाव में आकर जिस हड़बड़ी में वाउचर कार्यक्रम शुरू किए जा रहे हैं उससे हमारी स्कूल व्यवस्था पर दूरगामी नकारात्मक असर पड़ना तय है, ठीक उसी तरह जैसे डीपीईपी का नब्बे के दशक में और सर्व शिक्षा अभियान का वर्तमान दशक में पड़ा है। लेकिन नवउदारवादी नीति निर्माताओं को इससे क्यों कोई सरोकार होगा चूंकि उनके बच्चे उन महंगे स्कूलों में पढ़ रहे होंगे जो वाउचर प्रणाली के बाहर रहेंगे!

प्र. – आपने ब्रिटेन में भी वाउचर कार्यक्रम का जिक्र किया था। वहां क्या हुआ?

उ. – ब्रिटेन का अनुभव पूर्व–प्राथमिक या नर्सरी स्तर पर था। जिन इलाकों में नर्सरी शिक्षा के लिए वाउचर दिए गए वहां चिली के फ्रीडमैन मॉडल की तर्ज पर चार साल की उम्र के सभी बच्चों के मां–बाप को एक निश्चित कीमत के वाउचर दिए गए और ये वाउचर सरकारी अनुदान पर चलनेवाले एवं निजी दोनों प्रकार के स्कूलों में लागू होते थे। इसको लागू करने के लिए सन् 1996 में संसद ने एक कानून बनाया। लगभग तीन साल चले वाउचर कार्यक्रम में कई तरह की समस्याएं आईं, जैसे नर्सरी शिक्षा की उपलब्धता के बढ़ने और उसकी गुणवत्ता में सुधार के स्पष्ट सबूत न मिलना, गुणवत्ता में सुधार के लिए धन का एक स्थायी

स्रोत होना ज़रूरी है जो वाउचर नहीं बन पाया, कुछ अंचलों में वाउचर की कीमत का निजी फीस से कम पड़ जाना जिसके कारण मां–बाप पर अतिरिक्त फीस ('टॉप–अप') का बोझ पड़ना, नर्सरी स्कूलों में पर्याप्त जगह न होने पर स्कूल चयन का हक मां–बाप के हाथों से फिसलकर स्कूलों के हाथों में चले जाना, हकीकत में गैर–बराबरी का बरकरार रहना आदि। इन सब कारणों के मद्देनज़र **जून 1999 में ब्रिटिश सरकार ने नर्सरी वाउचर कार्यक्रम बंद करके उसकी जगह पूरी तौर पर सरकारी अनुदान पर चलने वाली लेकिन स्थानीय शैक्षिक प्राधिकारों द्वारा विकेंद्रित रूप से संचालित व्यवस्था लागू कर दी जिसमें अनुदान–प्राप्त निजी स्कूलों को भी जगह दी गई।**

प्र. – क्या कोई ऐसे भी मुल्क हैं जिन्होंने वाउचर प्रणाली को लागू करने के पहले उस पर विचार करके उसे लागू करने या नहीं करने का फैसला लिया हो? उनसे हम क्या सीख सकते हैं?

उ. – हां, आस्ट्रेलिया और हांगकांग (चीन) इसके उदाहरण हैं। आस्ट्रेलिया की सरकार ने सन् 1997 में उच्च शिक्षा के स्तर पर वाउचर लागू करने के गुण–दोषों पर विचार करके फैसला लिया कि वहां पर पहले से ही लागू शैक्षिक ऋण और सरकारी अनुदान की प्रणाली विकेंद्रित प्रबंधन और गुणवत्ता विकसित करने के लिए पर्याप्त गुंजाईश देती है, इसलिए वाउचर प्रणाली की कोई ज़रूरत नहीं है। हांगकांग की स्थानीय सरकार ने सन् 2001–02 में वाउचर प्रणाली के अंतर्राष्ट्रीय अनुभवों की विधिवत समीक्षा करवाई।

इस समीक्षा रपट[16] में हांगकांग के शैक्षिक हालात के मद्देनज़र उन सभी मुद्दों और सवालों को रेखांकित किया गया जिनका समाधान करना ज़रूरी होगा यदि इस प्रणाली को हांगकांग के सभी बच्चों को बगैर भेदभाव के गुणवत्तापूर्ण शिक्षा देनी है। काश, भारत सरकार ने भी वाउचर प्रणाली को तदर्थ रूप से हरी झंडी देने के पहले हांगकांग से सबक सीखते हुए वाउचर प्रणाली की विधिवत समीक्षा करके उस पर लोकतांत्रिक ढंग से फैसला लिया होता। लेकिन यहां तो मकसद येनकेन प्रकारेण सरकारी स्कूल प्रणाली को ध्वस्त करना और उसकी जगह सार्वजनिक धन के सहारे शिक्षा में निजी पूंजी को बढ़ावा देना था, न कि

---

[16]ली, विकी एवं वांग, एलिसा, 'एज्युकेशन वाउचर सिस्टम', लेजिस्लेटिव काउंसिल सेक्रेटेरियट (रिसर्च एंड लायब्रेरी सर्विसेज़ डिविज़न), हांगकांग, 9 अप्रैल 2002, वेबसाइट http://www.legco.gov.hk

भारतीय संविधान के अनुरूप सभी बच्चों को समतामूलक गुणवत्ता की शिक्षा का मौलिक हक देना।

प्र. – अब आपने वाउचर प्रणाली बनाम शिक्षा के मौलिक हक का मुद्दा उठाया है। क्या 86वें संविधान संशोधन के तहत शिक्षा के अधिकार के लिए फरवरी 2008 में बिल का जो नया प्रारूप मानव संसाधन विकास मंत्रालय की ओर से तैयार किया गया है उसमें सार्वजनिक–निजी 'साझेदारी' और वाउचर प्रणाली की कोई झलक दिखती है?

उ. – बिलकुल दिखती है। प्रत्यक्ष रूप से बिल के तीन प्रावधानों में। **पहला**, निजी स्कूलों में पड़ोस में रहने वाले कमजोर वर्ग के बच्चों के लिए 25 फीसदी आरक्षण का प्रावधान जिसके लिए निजी स्कूलों को सरकार अपनी स्कूल व्यवस्था में प्रति बच्चे पर होने वाले औसत खर्च के हिसाब से वित्तीय सहायता देगी। यदि गहराई से देखें तो स्पष्ट हो जाएगा कि यह प्रावधान हर मायने में कोलंबिया (और मिलवॉकी–क्लीवलैंड) मॉडल की वाउचर प्रणाली की तर्ज पर है। दिलचस्प बात यह है कि सार्वजनिक धन के सहारे शिक्षा के निजीकरण को खुलकर बढ़ावा देनेवाले इस प्रावधान को भारतीय संविधान की सामाजिक न्याय की भाषा में गढ़कर चतुराई से जनता में भ्रम पैदा करने की कोशिश की गई है। सरकार के पक्ष में बिल की पैरवी करनेवाले चंदेक बुद्धिजीवी और एनजीओ इस भ्रम को यह कहकर और गहरा रहे हैं कि यह प्रावधान पड़ोसी स्कूल पर टिकी हुई समान स्कूल प्रणाली की ओर बढ़ने का पहला कदम है। दरअसल, नवउदारवादी 'राज्य' द्वारा इस प्रावधान को बिल में स्वीकार इसीलिए किया गया चूंकि यह आरक्षण का जामा पहनाकर वाउचर प्रणाली लागू करने का प्रावधान है। इससे न तो गरीब बच्चों को बेहतर शिक्षा मिल पाएगी और न ही सरकारी स्कूल प्रणाली मजबूत होगी। इसका एक ही परिणाम निकलेगा – शिक्षा के निजीकरण के लिए सार्वजनिक धन पिछले दरवाजे से निजी स्कूलों को सौंपा जाएगा। यह दीगर बात है कि इस प्रावधान का निजी स्कूलों की ताकतवर लाबी द्वारा अपना अभिजात् चरित्र (वर्गीय, वर्णीय और सांस्कृतिक) बरकरार रखने और सरकारी नियंत्रण से बचने के लिए विरोध हो रहा है। कोलंबिया और मिलवॉकी–क्लीवलैंड की वाउचर प्रणाली में भी महंगे अभिजात् स्कूलों की अपने निहित स्वार्थ में यही प्रतिक्रिया थी और इसलिए वे वाउचर प्रणाली के दायरे के बाहर रहे।

दूसरा प्रावधान सीधे सार्वजनिक–निजी लूट का है। बिल की अधिसूची में स्कूली अधोसंरचना और शैक्षिक गुणवत्ता के ऐसे मापदंड और मानक दिए

गए जिनका पालन करना हरेक स्कूल के लिए अनिवार्य होगा। एक प्रावधान के अनुसार यदि कोई निजी स्कूल ऐसा कर पाने में सक्षम नहीं है तो राज्य सरकार उसे इस हेतु वित्तीय सहायता दे सकती है। इसके बावजूद वह निजी स्कूल अनुदान–प्राप्त श्रेणी में नहीं माना जाएगा यानी पूर्ववत अपना मूल निजी चरित्र बरकरार रख पाएगा।

तीसरा मुद्दा, राज्य सरकार द्वारा निजी स्कूलों के निरीक्षण को लेकर है। आज अधिकांश राज्यों में निजी स्कूलों के नियमित निरीक्षण के लिए कानूनी प्रावधान हैं जिसके तहत उनकी अधोसंरचना, फीस, हिसाब–किताब, शिक्षकों की नियुक्ति एवं वेतन, पाठ्यचर्या, शिक्षक–विद्यार्थी रिश्ते आदि पर सरकार की निगरानी रहती है। नियमों का उल्लंघन होने पर निजी स्कूल की मान्यता रद्द हो सकती है। इस बिल में राज्य सरकारों की जिम्मेदारियों की सूची दी गई है लेकिन उसमें निजी स्कूलों के निरीक्षण की जिम्मेदारी का कोई जिक्र नहीं है। यानी बिल पारित होते ही हरेक राज्य सरकार पर निजी लाबी का दबाव बनेगा कि उनके निरीक्षण वाले कानूनी प्रावधान खत्म किए जाएं ताकि निजी स्कूल मनमानी कर सकें। निजी पूंजी की निर्बाध बढ़ती हुई ताकत को देखते हुए कोई शक नहीं रहना चाहिए कि ठीक यही होगा – निरीक्षण–संबंधी कानूनी प्रावधान हटा लिए जाएंगे। इस मायने में यह बिल वाउचर प्रणाली के भी आगे बढ़ गया है चूंकि जिन मुल्कों में (अमरीका व ब्रिटेन समेत) वाउचर प्रणाली लागू हुई थी वहां निजी स्कूलों पर सरकारी निरीक्षण व नियंत्रण का दायरा बढ़ गया था। लेकिन भारत में निजी स्कूलों को निरंकुश छूट देना 'साझेदारी' का ही एजेंडा है। इसी के लिए यह बिल उपयुक्त जमीन तैयार कर रहा है।

इन तीन प्रावधानों (या उनकी कमी) के अलावा बिल में अन्य कई प्रावधान हैं जो शिक्षा में निजी पूंजी की भूमिका बढ़ाने के लिए परोक्ष मदद करते हैं। उदाहरण बतौर उस प्रावधान को देखिए जो कहता है कि सरकारी और अनुदान–प्राप्त स्कूलों के शिक्षकों को जनगणना, चुनाव (पंचायत से लेकर संसद तक) और आपदा राहत के कामों में कानूनन लगाया जा सकेगा। इसका निहितार्थ है कि सरकारी स्कूलों के बच्चों के साथ भेदभाव जारी रहेगा चूंकि जब उनके शिक्षक ऐसे कामों में लगाए जाने के कारण स्कूल से गैर–हाजिर रहेंगे तब निजी अनुदान–विहीन स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों की पढ़ाई जारी रहेगी। जाहिर है कि इस भेदभाव के चलते सरकारी स्कूलों में गिरावट आएगी जिसके कारण

निजी स्कूलों की बाजार में कीमत बढ़ेगी। कुल मिलाकर यह बिल पड़ोसी स्कूल पर टिकी हुई समान स्कूल प्रणाली का उल्लंघन करता है और इस मायने में शिक्षा के निजीकरण और बाजारीकरण का समर्थन करता है।

प्र. – सार्वजनिक–निजी 'साझेदारी' के संदर्भ में आपने वाउचर प्रणाली की जो विस्तृत और वस्तुपरक तस्वीर पेश की है, वह भारत की शिक्षा में विगत 17 सालों से लागू की जा रही नवउदारवादी नीति पर एक व्यापक लोकतांत्रिक बहस की मांग करती है। लेकिन आगे बढ़ने से पहले क्या आप इस संदर्भ में अपना कोई नीतिगत सुझाव देना चाहेंगे?

उ. – आपने लोकतांत्रिक बहस का जिक्र करके अच्छा किया। आज अमरीकी राष्ट्रपति चुनाव में उनकी स्कूली शिक्षा में वाउचर लागू करने या न करने के सवाल पर रिपब्लिकन और डेमोक्रेटिक पार्टियों के प्रत्याशियों – क्रमशः सर्वश्री मैक्केन और ओबामा – के बीच जमकर बहस हो रही है। श्री मैक्केन वाउचर प्रणाली के पक्ष में हूबहू वही तर्क दे रहे हैं जो इसके पैरवीकार भारत में देते हैं। इसमें प्रमुख तर्क है अमरीका की विशाल सार्वजनिक सरकारी स्कूल प्रणाली की गुणवत्ता में आ रही कथित 'गिरावट' से निजात पाने के लिए वाउचरों के जरिए मां–बाप को स्कूल चयन का हक दिया जाए ताकि निजी एवं सरकारी स्कूलों के बीच गुणवत्ता सुधारने के लिए होड़ हो। इसके विपरित वाउचर प्रणाली का विरोध करते हुए श्री ओबामा कहते हैं कि यदि सरकारी स्कूलों की गुणवत्ता में गिरावट आ रही है तो और भी ज़रूरी है कि अमरीका की संघीय सरकार सार्वजनिक स्कूल प्रणाली में सुधार लाने के लिए अपना सारा ध्यान फोकस करे, न कि वाउचरों के जरिए राजनीतिक सरोकार विकर्षित होने दे और सार्वजनिक धन से निजी स्कूलों का वित्तपोषण करे। श्री ओबामा का मानना है कि हाल के सालों में सार्वजनिक स्कूल प्रणाली में धन के निवेश में कमी आई है जिसके चलते गुणवत्ता से संबंधित कई प्रकार की समस्याएं पैदा हुई हैं। अतः उनका एलान है कि यदि वे चुने गये तो वे संघीय सरकार की ओर से राज्य सरकारों को सार्वजनिक स्कूल प्रणाली में सुधार लाने के लिए अधिक धन आबंटित करेंगे और गुणवत्ता–संबंधी समस्याओं को हल करने के लिए सभी आवश्यक कदम उठाएंगे, न कि वाउचर प्रणाली लागू करके सार्वजनिक धन निजी स्कूलों को देकर स्कूली शिक्षा के निजीकरण को बढ़ावा देंगे।

हमें नहीं मालूम कि इस अमरीकी चुनावी बहस से क्या निकलेगा। इस संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता कि अंततः श्री ओबामा

भी अमरीकी वित्तीय पूंजी और 'वाशिंगटन कन्सेंसस' की नवउदारवादी नीतियों के दबाव में आकर स्कूली शिक्षा में सार्वजनिक धन का आबंटन बढ़ाने का अपना एलान भूलकर वाउचर प्रणाली को समर्थन दे दें। लेकिन भारत के लिए इस बहस से दो सबक सीखे जा सकते हैं। पहला, अमरीकी जनता के लिए स्कूली शिक्षा का सवाल इतना महत्वपूर्ण है कि राष्ट्रपति चुनाव में यह दोनों प्रत्याशियों के लिए लोकतांत्रिक बहस का बड़ा सवाल बना। यह भारत में क्यों संभव नहीं हो पाया? क्या बगैर लोकतांत्रिक बहस के समतामूलक गुणवत्ता की स्कूली शिक्षा भारत के सभी बच्चों के लिए हकीकत बन पाएगी? दूसरा सबक। यदि हमारी विशाल सरकारी स्कूल व्यवस्था (लगभग 12 लाख स्कूल) की गुणवत्ता में गिरावट आ रही है तो क्या हम इसे चटपट नवउदारवादी निजी पूंजी को सौंपकर भारतीय 'राज्य' को उसकी संवैधानिक जवाबदेही से पलायन करने की छूट दे दें? निजी पूंजी तो ललचाई आंखों से सरकारी स्कूलों की पिछले 60 सालों से खड़ी की जा रही लाखों करोड़ों की परिसंपत्ति को हथियाने के लिए बेसब्री से इंतज़ार कर रही है।[17] क्या हम यह समझने की कोशिश न करें कि यह गिरावट क्यों आई, इसके लिए कौन–सी नीतियां जिम्मेदार हैं और इस नकारात्मक प्रक्रिया को पलटने के लिए क्या नीतिगत परिवर्तन ज़रूरी होंगे? सरकारी स्कूल व्यवस्था को मजबूत करने और बेहतर बनाने के लिए आवश्यक नीतिगत परिवर्तनों को हकीकत में बदलने का रास्ता हमारे सामने है, न कि वाउचर प्रणाली की मृगमरीचिका के पीछे भागने का। इस उद्देश्य से किस प्रकार की राजनीतिक लड़ाई लड़नी पड़ेगी? क्या नवउदारवाद की चकाचौंध में हम उस संविधान को भी ताक पर रख देंगे जिसमें आज़ादी की लड़ाई के दौरान भारत की जनता द्वारा देखे गए सपने दर्ज हैं? ये सारे सवाल भारतीय राजनीति की भावी लड़ाई के सवाल हैं।■

---

[17]योजना आयोग की अप्रैल 2008 में सार्वजनिक–निजी साझेदारी पर आयोजित बैठक में कई निजी कंपनियों ने जोर दिया कि उनको बने–बनाए सरकारी स्कूलों के परिसर (भवनों समेत) सौंप दिए जाएं जिनको वे सरकारी सहायता के सहारे बेहतर कर लेंगे। ये कारपोरेट घराने जानते हैं कि शहरों के सरकारी स्कूलों की परिसंपत्ति बेशकीमती है जिस पर मुनाफ़े का कारोबार किया जा सकता है।

'साझेदारी' का स्वरूप : कारपोरेट पूंजी के चंगुल में

प्र. – आपका सार्वजनिक–निजी साझेदारी का विश्लेषण बताता है कि नवउदारवादी अर्थव्यवस्था में निजी पूंजी ही तय करेगी कि 'साझेदारी' का रूप क्या होगा और वह कैसे क्रियान्वित होगी। योजना आयोग भी कारपोरेट घरानों को विशेषज्ञ मानकर उनसे नीति निर्माण करवा रहा है। इस पर आपको क्या कहना है?

उ. – आप ठीक ही कह रहे हैं कि नवउदारवादी अर्थव्यवस्था में योजना आयोग भी कारपोरेट घरानों को विशेषज्ञ मानकर उनसे ही सार्वजनिक–निजी साझेदारी का रूप तय करवा रहा है। **यानी लूटनेवाले से ही पूछा जा रहा है कि बताओ तुम सार्वजनिक संसाधनों को कैसे लूटना चाहते हो, तुम्हारे मनपसंद का इंतज़ाम करने को हम तैयार हैं चूंकि हमें इसके लिए 'वैधानिक जनादेश' मिला हुआ है!** इस वर्ष (2008) अप्रैल माह में योजना आयोग के उपाध्यक्ष की अध्यक्षता में इसी प्रश्न पर एक सलाह–मशविरा हुआ था जिसमें 18 कारपोरेट घरानों के प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया था – महिंद्रा एंड महिंद्रा, आईटीसी लिमिटेड, टाटा समूह, विप्रो, एचएसबीसी, अंबुजा सीमेंट, मैक्स इंडिया लिमिटेड, रैनबक्सी लैब, भारती फ़ाउंडेशन, एचडीएफसी लिमिटेड, इन्फ़ोसिस लिमिटेड, कोकाकोला यूनिवर्सिटी (?) और आईसीआईसीआई बैंक कुछ उल्लेखनीय नाम हैं।[18] ये सब नवउदारवादी भारत के नए शिक्षाविद हैं चूंकि इस बैठक में योजना आयोग के सदस्य (शिक्षा) प्रो. मुंगेकर को छोड़कर और कोई शिक्षाविद नहीं था। **जाहिर है कि यह सलाह–मशविरा शिक्षा पर नहीं था बल्कि शिक्षा के कारोबार पर था।**

योजना आयोग ने दर्ज किया है कि "अभी शिक्षा से मुनाफ़ा कमाने की अनुमति कानून नहीं देता और मुनाफ़े के बगैर या लोकहित से प्रेरित व्यक्तिगत पहलकदमी पर्याप्त नहीं हो सकती . . . . . इसीलिए सार्वजनिक–निजी साझेदारी पर आधारित चंदेक ऐसे मॉडल प्रस्तावित हैं जो स्वयं टिकाऊ होंगे और जिनका इस्तेमाल सार्वजनिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निजी पहल जुटाने हेतु व्यापक तौर पर किया जा सकेगा।" इसीलिए योजना आयोग ने चार विकल्प प्रस्तावित किए जिनमें बताया

---

[18]संदर्भ – दिनांक 21.04.2008 को योजना आयोग के उपाध्यक्ष की अध्यक्षता में सार्वजनिक–निजी साझेदारी पर हुई बैठक का प्रतिवेदन और इसी विषय पर योजना आयोग के द्वारा दिनांक 17.04.2008 को जारी किया गया पृष्ठभूमि पर्चा।

गया कि 'साझेदारी' में सरकारी योगदान के क्या–क्या रूप हो सकते हैं और निजी पूंजी शिक्षा से किस तरह मुनाफ़ा कमा सकती है। इस संदर्भ में योजना आयोग का एक सुझाव मौजूं है। इस सुझाव के अनुसार निजी निवेशक स्कूल का आधारभूत ढांचा और अन्य संबंधित सुविधाएं देगा (जमीन सरकार देगी) जिसके बदले में उसे आधारभूत ढांचे से "स्कूल के समय के बाद स्वीकार्य गतिविधियों से **तीसरे पक्ष को कमाई** करने की अनुमति रहेगी (अक्षरों को लेखक ने उभारा है)।" जरा कोई बताए कि स्कूली परिसर में स्कूल के बाद (यानी तड़के सुबह, देर शाम या रात) पैसा कमाने के लिए स्वीकार्य गतिविधियां क्या होंगी और अस्वीकार्य गतिविधियां कौन–सी? यह फैसला कौन करेगा और किस आधार पर? क्या रात को दारू का 'बार' चलाना और 'बार गर्ल्स' का डांस कराना स्वीकार्य गतिविधि होगी या अस्वीकार्य? और इसमें हाई स्कूल के छात्र–छात्राओं से वेटर का काम लेने की अनुमति मिलेगी या नहीं? और इस मुनाफ़ाखोरी के चक्कर में 'तीसरा पक्ष' कौन होगा? ओड़िशा की खदानों में सार्वजनिक–निजी साझेदारी में पहले पक्ष बतौर टाटा समूह और कोरिया की पास्को कंपनी ने अपने जल–जंगल–जमीन की लड़ाई लड़ रहे आदिवासियों से निर्दयतापूर्वक निपटने के लिए 'तीसरे पक्ष' के रूप में बाहरी गुंडों के गैंग को ठेका दिया, जहां दूसरे पक्ष के रूप में राज्य सरकार की पुलिस तमाशबीन बनी रही।

इन सवालों पर अभी योजना आयोग ने अपने ताश के पत्ते पूरे खोले नहीं हैं। लेकिन कारपोरेट घराने बेताब हैं। अतः योजना आयोग की बैठक में ही एक कंपनी ने सुझाव दे दिया कि शिक्षकों की कमी (कौन–सी कमी और क्यों?) के मद्देनज़र 'ई–लर्निंग मॉड्यूल' को अपनाना चाहिए यानी बगैर शिक्षक के स्कूल चलाने चाहिए! यह सुझाव यूं ही नहीं दे दिया गया था। जब यह सुझाव योजना आयोग के सामने रखा गया था लगभग उसी समय से एक बड़ी मोबाइल कंपनी ने इस विचार के पक्ष में जनमत बनाने के लिए टीवी पर विधिवत अभियान चला रखा है। इसमें दिखाया जा रहा है कि एक सुसज्जित अभिजात् स्कूल में उच्च मध्यम वर्ग के बच्चों को एक 'टीचर' पढ़ा रही है लेकिन उसके मोबाइल से दूरदराज इलाकों में बगैर स्कूल और बगैर शिक्षक के गरीब बच्चे अपने सामने एक मोबाइल रखकर 'टीचर' की आवाज़ सुन रहे हैं और तोते की तरह दोहरा रहे हैं। चल गया न काम बगैर स्कूल और बगैर शिक्षक के – डीपीईपी के मल्टीग्रेड स्कूल (जहां एक शिक्षक पांच कक्षाओं को एक ही कमरे में इकट्ठे पढ़ाने का चमत्कार करता था) और सर्व शिक्षा अभियान के शिक्षा गारंटी केंद्रों (जहां शिक्षा छोड़कर बाकी सभी चीजों

की गारंटी है) से भी आगे बढ़ गए ये मोबाइल स्कूल – **व्हाट एन आयडिया!** बात यहीं नहीं रुकी। वही मोबाइल कंपनी अब बड़े–बड़े बिलबोर्ड लगाकर एलान कर रही है – एक स्कूल, अनेक क्लासरूम। दिक्कत केवल यह है कि स्कूल पैसे वालों के लिए है और मोबाइलनुमा 'टीचर' जहां गरीब बच्चों को पढ़ा रही है वहां न स्कूल है और न क्लासरूम – 'क्लासरूम' की जगह खुले आकाश या पेड़ों ने ले ली है। लेकिन इसे आप न तो टैगोर का सौंदर्य बोध सिखाने वाला स्कूल समझिए और न ही गांधी का उत्पादक काम पर आधारित ज्ञान देने वाला नई तालीम स्कूल। यह तो कारपोरेट घरानों के लिए स्कूल का भ्रम पैदा करने वाला और मुनाफ़ा कमानेवाला विचार है – **व्हाट ए प्रॉफ़िटेबल आयडिया, सर जी!** यही है सार्वजनिक–निजी साझेदारी का एक और कारपोरेट विकल्प जिसका प्रस्ताव योजना आयोग के सामने एक कंपनी ने 'ई–लर्निंग मॉड्यूल' के नाम से रखा था।

प्र. – इन हालात में क्या आप मानते हैं कि एक प्रभावी शैक्षिक नियामक आयोग का गठन करके तथाकथित 'साझेदारी' को जनहित की दृष्टि से क्रियान्वित किया जा सकेगा?

उ. – आपके इस सवाल के उत्तर में आपको एक सच्ची कहानी सुनाता हूं। हाल में मैंने भोपाल के अपने बीएसएनएल के लैंडलाइन फ़ोन से डायरेक्टरी पूछताछ का नंबर मिलाकर एक मशहूर डॉक्टर का नंबर मांगा। जवाब मिला कि उनके कंप्यूटर पर इसका कोई रिकार्ड नहीं है। मैंने झल्लाकर कहा कि यह कैसे हो सकता है। दूसरी तरफ़ मौजूद टेलीफ़ोन ऑपरेटर ने मुझे शांत करते हुए समझाया कि इस डॉक्टर के पास निजी कंपनी का फ़ोन होगा। मैंने सवाल दागा कि उस कंपनी की भी डायरेक्टरी बीएसएनएल के कंप्यूटर पर क्यों नहीं है। ऑपरेटर ने बताया कि ज़रूर होनी चाहिए लेकिन वह कंपनी अपनी डायरेक्टरी बीएसएनएल को नहीं दे रही है जबकि बीएसएनएल की डायरेक्टरी की सीडी उस कंपनी ने ले ली है और इस तरह अपने ग्राहकों को बताती है कि उसकी सेवा बीएसएनएल से बेहतर है। तो आप लोग टेलीकॉम रेग्युलेटरी अथॉरिटी (ट्राई) के पास शिकायत क्यों नहीं करते, मेरा सवाल था। ऑपरेटर ने बताया कि पूरी कोशिश हो रही है लेकिन निजी कंपनी के सामने बीएसएनएल जैसी ताकतवर सार्वजनिक कंपनी की भी तनिक नहीं चली चूकि निजी कंपनी का दबदबा ट्राई जैसे नियामक आयोग पर इस सार्वजनिक कंपनी की तुलना में कहीं ज्यादा रहा है। अब बताइए कि इस कहानी को सुनकर भी आपको शैक्षिक नियामक आयोग की कारगरता पर विश्वास है? ■

नवउदारवादी विचारधारा में उलझते बुद्धिजीवी

प्र. – प्रो. कृष्ण कुमार के सार्वजनिक–निजी साझेदारी पर अंग्रेजी में लिखे और इकनॉमिक एंड पोलिटिकल वीकली (19 जनवरी 2008) में छपे पर्चे का अनुवाद 'विमर्श' पत्रिका के इस अंक में शामिल किया गया है। उसमें विमर्श के स्तर पर मतों की टकराहट का विश्लेषण है और सार्वजनिक संस्थाओं की साख गिराने में नौकरशाही के निराशामूलक सोच की भूमिका का विवरण है। लेकिन क्या 'राज, समाज और शिक्षा' वाले कृष्ण कुमार इस पर्चे में केवल प्रवृत्तिमूलक विश्लेषण करके संरचनात्मक आलोचना से गुरेज तो नहीं कर रहे हैं?

उ. – देखिए, मैंने प्रो. कृष्ण कुमार का यह आलेख कम–से–कम एक दर्जन बार पढ़ा है, केवल यह समझने के लिए कि आखिर उसका लब्बोलबाब क्या है। लेकिन हर बार पढ़ने पर मेरी दिक्कत बढ़ती गई है। इस आलेख में अवधारणा के स्तर पर तीन बुनियादी दिक्कतें हैं –

पहला, राजनीतिक अर्थशास्त्र के खाके का कोई संदर्भ नहीं देना जिसके कारण उनके पूरे विश्लेषण पर 'राज्य' एवं वित्तीय पूंजी की सांठगांठ, वित्तीय पूंजी की बढ़ती ताकत के दबाव में 'राज्य' के चरित्र में बदलाव और वर्तमान में 'राज्य' का स्वयं नवउदारवाद का एजेंट बन जाने जैसी महत्वपूर्ण परिघटनाओं का कोई प्रभाव नहीं दिखता। इसीलिए उनके आलेख में मिसाल बतौर शिक्षा के उद्देश्य बनाम वित्तीय पूंजी के द्वंद्व और बाजार के द्वारा शिक्षा पर किए जा रहे ज्ञानमीमांसात्मक (ज्ञान के स्रोतों, निर्माण व चरित्र से संबंधित) आक्रमण की पड़ताल करने की कोशिश तक गायब है।[19]

दूसरा, उनका आलेख पूरी तौरपर अ–ऐतिहासिक है। वैश्वीकरण की नीतियों और नवउदारवादी अर्थव्यवस्था के चलते भारत की शिक्षा नीति और व्यवस्था पर अस्सी के दशक से ही जो आक्रमण हो रहा है उसके लगभग 20 साल के इतिहास की इस आलेख में तनिक भी झलक नहीं है। इसीलिए उनकी सार्वजनिक–निजी साझेदारी की समझ अनेक विरोधाभासों से भरी हुई है। मसलन, आलेख आभास

---

[19]निश्चित ही यह कमी उनके उन अनेक विद्यार्थियों एवं मेरे जैसे पुराने सहयोगियों को विशेष रूप से अजीबोगरीब लगेगी जिन्होंने शिक्षा में विश्लेषण का ऐसा खाका उन्हीं से सीखा है, खासकर सन् 1978 में छपी उनकी 'राज, समाज और शिक्षा' नामक पुस्तक से।

देता है कि सरकारी स्कूल प्रणाली को ध्वस्त करने की नवउदारवादी प्रक्रिया हाल में ही शुरू हुई है जबकि यह प्रक्रिया लगभग बीस साल से चलाई जा रही है। दरअसल, 'साझेदारी' का मुद्दा तभी उठाया गया जब डीपीईपी और सर्व शिक्षा अभियान के चलते सरकारी स्कूल प्रणाली की जनता में विश्वसनीयता एकदम खत्म हो चुकी थी। निजी पूंजी और 'राज्य' को इस मौके का इंतजार करना पड़ा अन्यथा सरकारी स्कूल प्रणाली की निम्न–स्तरीय कार्यकुशलता का तर्क टिक ही नहीं पाता। आलेख की इस अ–ऐतिहासिक दृष्टि के कारण ही 'साझेदारी' की राजनीति के बारे में वस्तुपरक समझ नहीं बन पाती है।

तीसरा, इन दोनों अवधारणात्मक खामियों से पैदा हुए भ्रम के कारण आलेख में 'साझेदारी' के सवाल पर सारा विमर्श महज दो श्रेणियों में सिकुड़ गया है – एक श्रेणी में "शिक्षा से जुड़े हुए कई व्यक्ति और संगठन" हैं तो दूसरी श्रेणी में "संशय से भरे हुए (सरकारी) अफ़सर" हैं। बस। जिसे आपने अपने सवाल में 'मतों की टकराहट' कहा है वह महज इन्हीं दो श्रेणियों के बीच है। उनके विमर्श में न तो वाशिंगटन कन्सेंसस और नवउदारवादी नीतियों को दुनिया पर थोपने वाली अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष व विश्व बैंक जैसी संस्थाएं हैं, न वैश्विक बाजार का नेतृत्व करने वाले जी–8 के ताकतवर मुल्क हैं और न ही नवउदारवाद का देश के विभिन्न अंचलों में जमकर प्रतिरोध करते हुए जन आंदोलन, समाजकर्मी और बुद्धिजीवी हैं।

आपने ठीक ही पूछा है कि कहीं प्रो. कृष्ण कुमार इस पर्चे में 'केवल प्रवृत्तिमूलक विश्लेषण करके संरचनात्मक आलोचना से गुरेज' तो नहीं कर रहे हैं। मैं केवल दो उदाहरण पेश करूंगा, हालांकि उनका आलेख ऐसे उदाहरणों से भरा हुआ है। राजनीतिक अर्थशास्त्र के खाके की अनदेखी और महज दो श्रेणियों (जो जाने–अनजाने नवउदारवादी पूंजी के एजेंट के रूप में सोचती और काम करती हैं) की प्रवृत्तियों में उलझ जाने का ही परिणाम है कि वे 'साझेदारी' के लिए अपनाई जा रही रणनीति की व्याख्या करते हुए स्वयं भ्रमित हो जाते हैं। वे कहते हैं कि निजी या गैर–सरकारी सेवा प्रदाताओं को सरकार की अपनी संस्थाओं को सुधारने या संयुक्त जिम्मेदारी लेने की "क्षमता में अविश्वास" है। लेकिन कृष्ण कुमार जी जानते ही होंगे कि वित्तीय पूंजी और बाजार की ताकतों को सरकार में इतना ज्यादा विश्वास है कि अपने विकास के

लिए वह 'राज्य' का पूरी तरह इस्तेमाल करती हैं। 'साझेदारी' की रणनीति तय करने के दौरान दिखने वाली निजी पूंजी की हिचकिचाहट का असली कारण सरकार की "क्षमता में अविश्वास" नहीं वरन् उसकी अधिकतम मुनाफ़ा कमाने के नवीनतम रास्तों की तलाश है। इसी तरह आलेख में अन्यत्र 'राज्य' की शैक्षिक जिम्मेदारियों को निजी पूंजी के साथ बांटने के उस 'साझेदारी' मॉडल का जिक्र है जिसकी कृष्ण कुमार जी खुद पैरवी कर रहे हैं। इस संदर्भ में वे कहते हैं कि "इस मॉडल में राजनीतिक घुट्टी पिलाने की संभावना भी कम दिखती है"। शायद वे भूल रहे हैं कि उसी आलेख में उन्होंने स्वयं स्वीकारा है कि 'साझेदारी' एक विचार नहीं वरन् एक विचारधारा है। तभी तो **इस विचारधारा की घुट्टी इतनी बखूबी पिलाई जा सकी है कि न केवल चंदेक "संशय से भरे हुए (सरकारी) अफ़सर" और एनजीओ बल्कि योजना आयोग और देश का शीर्ष राजनीतिक नेतृत्व भी आंख–मूंदकर नवउदारवादी 'साझेदारी' का गुणगान करने लगे हैं।**

अंततः, कृष्ण कुमार जी अपने ही बिछाए जाल में फंसते दिखाई दे रहे हैं। उनको 'साझेदारी' का वह मॉडल तो ठीक नहीं लगता जिसमें निजी पूंजी शैक्षिक संस्थाओं की मिल्कियत हथियाने लगती है। लेकिन वे स्वयं साझेदारी' का एक मॉडल पेश करते हैं जिसमें 'राज्य' और निजी पूंजी आपस में शैक्षिक जिम्मेदारियां बांटेंगे। मिसाल बतौर वे निजी पूंजी को आह्वान देते हैं कि वह अध्यापक शिक्षण के क्षेत्र में आईआईटी–आईआईएम के स्तर की दस राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षण संस्थान स्थापित करे। एक बार फिर कहूंगा कि यदि इस आलेख का खाका राजनीतिक अर्थशास्त्र से निकला होता तो वे ऐसा 'मासूम' प्रस्ताव कभी पेश नहीं करते चूंकि वे जानते हैं कि **निजी वित्तीय पूंजी का मकसद टैगोर–गांधी–कृष्णमूर्ति–गिजुभाई के शैक्षिक दर्शन के अनुसार शिक्षक तैयार करना कतई नहीं है। उसका मकसद ऐसे शिक्षक तैयार करना है जो बाजार के मुनाफ़े को निर्बाध रफ्तार से बढ़ाने के लिए गुलाम मानसिकता के उपभोक्ता और रोबोटनुमा ज्ञानकर्मी बनाए।** वैसे तो जैसा मैंने योजना आयोग की बैठक की चर्चा करते हुए बताया था कि निजी पूंजी को शिक्षक की ज़रूरत ही नहीं है। उसे डर है कि कहीं वह सोचना शुरू न कर दे, आखिरकार वह है तो इंसान। इसीलिए 'साझेदारी' की चर्चा में निजी पूंजी ने 'ई–लर्निंग मॉड्यूल' का सुझाव दिया ताकि नवउदारवाद की घुट्टी किसी केंद्रीकृत कारपोरेट स्रोत से सबको एक ही ढंग से

पिलाई जा सके। निश्चित ही कृष्ण कुमार जी ऐसे राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षण संस्थान स्थापित करने के पक्ष में कतई नहीं होंगे, यह हम जानते हैं। उनसे बेहतर कौन जानता होगा कि निजी बी.एड. कालेजों ने किस तरह केवल अध्यापक शिक्षण को ही नहीं वरन् संसद द्वारा इन कालेजों की गुणवत्ता बरकरार रखने के लिए स्थापित एनसीटीई को भी एक फूहड़ मजाक बना दिया है? तो फिर कृष्ण कुमार जी ने ऐसा बेबुनियाद सुझाव क्यों दिया? इस सवाल का उत्तर तो वही दे सकते हैं।

इस मुद्दे को छोड़ने से पहले कृष्ण कुमार जी की मशहूर पुस्तक 'राज, समाज और शिक्षा' (1978) का जिक्र करना सटीक लगता है जिसमें उन्होंने शिक्षा और स्कूल की व्याख्या राजनीतिक सत्ता, शासक वर्ग और समाज में विभिन्न वर्गों की परस्पर टकराहट के परिप्रेक्ष्य में की थी। इस व्याख्या ने शिक्षा के एक पूरे विमर्श को प्रेरित किया। तीस साल बाद उन्हीं के इस आलेख में वह परिप्रेक्ष्य कहां और कैसे गायब हो गया, यह हम सब समझना चाहेंगे। आखिरकार, यह सवाल कोई व्यक्तिगत सवाल नहीं है वरन् भारतीय अकादीमिया और देश के भविष्य के लिए इसके गहरे निहितार्थ हैं। मुझे विश्वास है कि मेरे मित्र कृष्ण कुमार जी खुद इस बहस को आगे बढ़ाएंगे ताकि शिक्षा पर हो रहे चौतरफा नवउदारवादी आक्रमण को आम जनता सही ढंग से समझ सके और उसका प्रतिरोध भी कर सके।■

शिक्षा और जल–जंगल–जमीन–जीविका बचाने की साझी लड़ाई

प्र. – शिक्षा के शास्त्र में आपने लगातार शिक्षा के राजनीतिक अर्थशास्त्र के अध्ययन पर जोर देकर इसकी स्वतंत्र विशेषज्ञता को रेखांकित किया है। लेकिन क्या सार्वजनिक–निजी साझेदारी का विचार यह प्रतिपादित नहीं करता कि अब आर्थिक नीति राजनीति को और इसलिए शिक्षा नीति को भी संचालित करने लगी है। यानी अब शिक्षकों और शिक्षाविदों की भूमिका हाशिए पर चली गई है। अगर आप इसे मानते हैं तो आप अपनी भूमिका को भविष्य में कैसे देखते हैं?

उ. – मैंने एक लंबे अरसे तक यह गलतफहमी पाली थी कि सरकार को समझाकर या उसकी समितियों–आयोगों पर बौद्धिक व सामाजिक दबाव बनाकर नीतिगत परिवर्तन करवाए जा सकते हैं। लेकिन राष्ट्रीय शिक्षक आयोग (1983–84), आचार्य राममूर्ति शिक्षा नीति समीक्षा समिति (1990), केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ('केब') और उसकी तीन समितियों में मेरी सक्रिय भागीदारी (2004–05) का अनुभव इस बात का गवाह है कि 'राज्य' वही नीतियां बनाता है जो उसके राजनीतिक चरित्र और वर्ग हितों के अनुकूल हों। इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता कि आपके सुझाव कितने तार्किक हैं, कितने अनुभवजनित हैं या कितने जनहित में हैं। नवउदारवादी युग में तो 'राज्य' ने तर्क, अनुभव और जनहित की बात सुननी लगभग बंद ही कर दी है।

सन् 1972 से 2002 तक मध्यप्रदेश में चले 'होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम' (होविशिका) को भी इसी दृष्टि से देखने की ज़रूरत है। आज़ादी के बाद भारत में शायद यह सबसे बड़ा नीतिगत हस्तक्षेप था – लगभग 1,000 स्कूलों में एक लाख बच्चों की शिक्षा, लगभग 1,000 शिक्षकों व उनके शिक्षाशास्त्र ('पैडागॉजी') और डायट व एससीईआरटी के जरिए पाठ्यचर्या व पाठ्यपुस्तक निर्माण एवं अध्यापक शिक्षण की नीति को प्रभावित किया। इस बहुआयामी हस्तक्षेप की बात यहां करना मुमकिन नहीं होगा। लेकिन इतना भर समझना ज़रूरी है कि 'राज्य' ने तीस साल के नीतिगत परिवर्तन के जमीनी अनुभव को अनदेखा करते हुए इसे सन् 2002 में निहायत गैर–लोकतांत्रिक, गैर–तार्किक एवं तदर्थ तरीके से बंद क्यों कर दिया। उस समय मध्यप्रदेश सरकार के सामने

विकल्प था कि वह होविशिका से सबक लेकर पूरे प्रदेश की पाठ्यचर्या और शिक्षाशास्त्र में जनपक्षी परिवर्तन लाने की नीति लागू करे। लेकिन सरकार ने यह विकल्प न चुनकर इसे बंद करने का फैसला लिया। आखिर क्यों? जाहिर है कि नवउदारवादी ताकतों को यह मंजूर नहीं था कि होविशिका जैसी लोकतांत्रिक और वैज्ञानिक पाठ्यचर्या जनमानस को तैयार करे। विश्व बैंक द्वारा प्रायोजित और यूरोपियन संघ से वित्तपोषित डीपीईपी का भारत में सबसे बड़ा हिस्सा मध्यप्रदेश में ही चल रहा था जिसके तहत राज्य सरकार की मिलीभगत से महज साक्षरता व कौशल निर्माण को स्कूली पाठ्यचर्या और शिक्षाशास्त्र का पर्याय बनाने की विधिवत साजिश की गई थी। इस पृष्ठभूमि में कोई अचरज नहीं होना चाहिए कि हर हाल में होविशिका को बंद करना नवउदारवादी 'राज्य' की तात्कालिक ज़रूरत या शायद मजबूरी बन चुकी थी।

मैंने इस साक्षात्कार में राजनीतिक अर्थशास्त्र के आधार पर 'राज्य' और उसके चरित्र का जो विस्तृत विश्लेषण पेश किया है उसके बाद तो मेरे इस अनुभवजनित निष्कर्ष की सैद्धांतिक पुष्टि हो जाती है कि 'राज्य' का वर्ग चरित्र ही तय करता है कि शिक्षा नीति का बुनियादी चरित्र क्या होगा। तो फिर क्या किया जा सकता है? एक ही रास्ता है और वह रास्ता एक लंबे जन आंदोलन का है। अकेले शिक्षा के मुद्दे पर अलग से आंदोलन खड़ा करना मुमकिन नहीं दिखता चूंकि जनता के लिए इस वक्त अपने अस्तित्व की लड़ाई अधिक प्राथमिकता रखती है। अतः यह ज़रूरी है कि शिक्षा की लड़ाई को जल–जंगल–जमीन–जीविका के लिए देशभर में चल रहे आंदोलनों के साथ जोड़ा जाए। शिक्षा में सार्वजनिक–निजी साझेदारी के प्रतिरोध की लड़ाई तो शिक्षा की सर्वांगीण लड़ाई का हिस्सा है। यहां एक और बात का जिक्र करना ज़रूरी है। शहीद शंकर गुहा नियोगी ने सत्तर और अस्सी के दशक में छत्तीसगढ़ में 'संघर्ष और निर्माण' के राजनीतिक दर्शन को जमीन पर उतारकर दिखाया था। शिक्षा की लड़ाई को भी हमें 'संघर्ष और निर्माण' के आधार पर आगे बढ़ाने का तरीका सीखना होगा। इस संदर्भ में देश की स्कूल व्यवस्था का पड़ोसी स्कूल की अवधारणा पर टिकी हुई समान स्कूल प्रणाली के अनुसार पुनर्निर्माण करने की लड़ाई जनता को संघर्ष के दौरान निर्माण का एक जबर्दस्त मुद्दा देती है। दरअसल, समान स्कूल प्रणाली के निर्माण की लड़ाई को नवउदारवादी नीतियों के प्रतिरोध की लड़ाई के साथ जोड़ते ही शिक्षा के जन आंदोलन को एक सार्थक दिशा

मिल जाती है। ऐसा कर पाना आज की शिक्षाशास्त्रीय (पाओले फ्रेरे की 'पैडागॉजी' के मायने में)[20] चुनौती है और इसीलिए राजनीतिक चुनौती भी है।

प्र. – 'शिक्षा में बदलाव का सवाल' नामक आपकी सन् 2000 में छपी पुस्तक को देखें तो आपकी स्थापनाएं सार्वजनिक–निजी 'साझेदारी' जैसे विचारों के खतरों का पहले ही पूर्वानुमान लगाती हैं। इस पुस्तक में आप नीति की रचनात्मक आलोचना करते दिखते हैं और उसके संवैधानिक विचलनों को प्रश्नांकित करते हैं। वर्तमान प्रतिगामी परिदृश्य में आपके द्वारा उठाए गए बुनियादी सवाल आंदोलनकारियों, शिक्षक व विद्यार्थी संगठनों, मीडियाकर्मियों, बुद्धिजीवी वर्ग और आम जनता का भी ध्यान खींच रहे हैं। लेकिन कारपोरेट गठबंधन में चल रही सरकार आपके विचारों और सवालों को अव्यावहारिक और शायद फिजूल भी मानकर खारिज कर रही है। आप इस परिघटना को कैसे समझते हैं और इससे जूझने के लिए आपका रचनात्मक रास्ता क्या होगा?

उ. – जैसाकि मैंने अभी कहा कि रास्ता केवल एक ही है – 'संघर्ष और निर्माण' के शिक्षाशास्त्र को आधार बनाते हुए शिक्षा की लड़ाई को जल–जंगल–जमीन–जीविका के आंदोलनों के साथ जोड़कर एक समग्र राजनीतिक आंदोलन खड़ा करना। इस लड़ाई के दौरान जनता भी अपने सृजनात्मक शैक्षिक विकल्पों की खोज करेगी और उनके निर्माण के लिए कदम उठाएगी। उदाहरण के लिए जनवरी 2008 में हरदा (मध्यप्रदेश) में हुई पांच आदिवासी संगठनों की एक बैठक में सहमति बनी कि हमें आज स्कूलों में दी जा रही शिक्षा नहीं चाहिए चूंकि "यह हमारे बच्चों को सरकार और ठेकेदारों का दलाल बनाती है और उन्हें हमारे आंदोलन से तोड़ती है।" इसलिए वहां विचार किया गया कि सरकारी स्कूलों की शिक्षा में कैसे जन–हस्तक्षेप किया जाए। लेकिन हमें सतर्क रहना होगा कि ये जनविकल्प एनजीओ की शैली वाले नवउदारवादी विकल्प न बन जाएं। इसके लिए ज़रूरी है कि विभिन्न जन आंदोलन मिलकर सार्वजनिक (सरकारी) शिक्षा प्रणाली के साथ एक आलोचनात्मक रिश्ता या जुड़ाव ('क्रिटिकल एंगेजमेंट') बनाते हुए उसका बहुआयामी पुनर्निर्माण करने के लिए व्यापक स्तर पर जनचेतना विकसित करें और जनदबाव

---

[20]देखिए, पाओले फ्रेर, 'उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र' (अनुवादक – रमेश उपाध्याय), ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 1996.

बनाएं। यह एक अति–आवश्यक राजनीतिक काम होगा चूंकि इसी से सार्वजनिक शिक्षा सच्चे मायने में लोकतांत्रिक, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष और समतामूलक समाज के निर्माण का जरिया बनेगी। यानी शिक्षा की लड़ाई अंततः समाज परिवर्तन की लड़ाई है, यह हमें समझना है। हम जिस हद तक शिक्षा को जल–जंगल–जमीन–जीविका की लड़ाई के साथ जोड़ते हुए इस दिशा में आगे बढ़ पाएंगे उसी अनुपात में नवउदारवादी अर्थव्यवस्था ध्वस्त करने में मदद मिलेगी और उसी अनुपात में समाजवादी अर्थव्यवस्था के स्थापित होने की संभावनाएं हकीकत बनने लगेंगी।■

उपसंहार

हमने समझा है पिछले दो दशकों का दौर वह नवउदारवादी दौर है जब भारत की घरेलू पूंजी वैश्विक पूंजी के एजेंट के रूप में काम करते हुए भारतीय 'राज्य' पर इस कदर हावी हो चुकी है कि वह पीपीपी के जरिए अपने व वैश्विक पूंजी के हितों में आम जनता के तमाम सार्वजनिक संसाधनों का इस्तेमाल कर पाती है। हमने यह भी देखा कि दो दशक के पहले तक जो बुद्धिजीवी और क्रांतिकारी चेतना से लैस अन्य साथी हमारे साथ खड़े हो पाते थे उनमें से कई अब वैश्विक पूंजी के एजेंडे में समाहित हो रहे हैं या हो चुके हैं, हालांकि अभी भी वे अपनी बौद्धिकता के सहारे अपने इस भटकाव का भी तर्कसंगतिकरण कर पाते हैं। इस हालात में हमारे सामने केवल एक विकल्प बचता है। यह विकल्प है आम जनता को, खासकर असंगठित क्षेत्र के युवाओं, महिलाओं, किसानों व मजदूरों को, शिक्षा के आंदोलन से जोड़ने के मकसद से उनके बीच जाना और जल–जंगल–जमीन–जीविका को नवउदारवादी हमलों से बचाने के लिए चल रहे उनके संघर्षों से जुड़ना। लेकिन यह काफी नहीं होगा जब तक कि हम इस लड़ाई के दौरान वर्ग, धर्म, जाति, लिंग, भाषा, अंचल व विकलांगता के कारण हाशिए पर ठेले गए विभिन्न तबकों के प्रति खुद संवेदनशील नहीं हो जाते और उनके सरोकारों को समझने नहीं लगते। तभी आम जनता की लड़ाई अर्थवाद की बेड़ियों को तोड़कर नवउदारवाद को उखाड़ फेंकने और समाजवाद स्थापित करने के लिए एक साझी लड़ाई में तब्दील हो सकेगी। इस क्रांतिकारी काम में विद्यार्थी–युवा संगठनों व शिक्षक संघों की अहम भूमिका होगी चूंकि वे विज्ञान, इतिहास व सामाजिक विज्ञान के अपने ज्ञान व समझ को आम जनता के सरोकारों से जोड़कर समाजवाद की साझी लड़ाई को समृद्ध कर पाएंगे।■

पीपीपी द्वारा फैलाई गई तीन भ्रांतियां

भारत सरकार द्वारा पीपीपी पर जारी किए गए नीतिगत दस्तावेजों में से निम्नांकित तीन पर नजर डालें –

- योजना आयोग द्वारा सितंबर 2003 में गठित 'सामाजिक क्षेत्र पर पीपीपी उप–समूह' की रपट (2004);
- मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार का स्कूली शिक्षा में पीपीपी पर नीतिगत प्रस्ताव (2009); एवं
- वित्त मंत्रालय, भारत सरकार का 'ड्राफ्ट नेशनल पब्लिक प्राइवेट पार्टनरशिप पॉलिसी' नामक दस्तावेज (2011)।

उपरोक्त दस्तावेजों के विश्लेषण से जाहिर होता है कि 'राज्य' की पीपीपी नीति निम्नांकित भ्रांतियों पर टिकी हुई है जिनके सहारे जनता को भ्रमित करना संभव हो जाता है –

1. पीपीपी, निजी या प्राइवेट साझेदारों के तहत दो परस्पर विरोधी श्रेणियों के साझेदारों – बिन मुनाफा काम करनेवाले स्वैच्छिक संगठनों/जन–आधारित समूहों एवं मुनाफे के लिए काम करनेवाले कारपोरेट घरानों/कारोबारी समूहों – को गड्डमड्ड करती है। इन दोनों प्रकार के साझेदारों में बुनियादी अंतर है। पीपीपी के पहले तक सार्वजनिक धन के द्वारा केवल बिन मुनाफा काम करनेवाले स्वैच्छिक समूहों को समर्थन दिया जाता था लेकिन पीपीपी में सार्वजनिक धन का इस्तेमाल मुनाफा कमानेवाले समूहों या संगठनों के लिए भी किया जाएगा जिसके कारण पीपीपी के मकसद पर ही सवाल उठ जाते हैं। इस भ्रांति के सहारे पीपीपी के प्रवर्तकों का कुतर्क है कि सरकार द्वारा शैक्षिक संस्थानों को ब्रिटिश काल से लेकर आजादी के बाद के 3–4 दशकों तक दिया जानेवाला अनुदान भी तो पीपीपी का ही रूप है। लेकिन यह कुतर्क देनेवाले जानबूझकर इस हकीकत को नजरंदाज करते हैं कि ये तमाम शैक्षिक संस्थान लोकहित की दृष्टि से काम करते थे, न कि मुनाफे की दृष्टि से। हालांकि यह भी सच है कि इस नवउदारवादी दौर में इनमें से कई शैक्षिक संस्थानों का चरित्र बदल चुका है और वे भी शिक्षा से मुनाफा कमाने में जुट गए हैं।

2. सार्वजनिक साझेदार यानी सरकार द्वारा संचालित शिक्षा व्यवस्था घटिया और ढीलमढाल है जबकि निजी साझेदार के शैक्षिक संस्थान उम्दा और कुशल हैं। पीपीपी के दस्तावेज निजी शिक्षा व्यवस्था के किसी भी नकारात्मक पहलू का जिक्र नहीं करते लेकिन सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था में केवल नकारात्मकता ही देखते हैं। लेकिन यह हकीकत नहीं है। अनेक अध्ययनों से पता चलता है कि हकीकत ठीक उलट भी हो सकती है, खासकर जब हम लोकतांत्रिकता, बराबरी, सामाजिक न्याय, धर्मनिरपेक्षता, वैज्ञानिक दृष्टिकोण आदि संवैधानिक मूल्यों के प्रति सरोकारों की बात करते हैं। वैसे भी केंद्रीय व नवोदय विद्यालयों, आईआईटी, आईआईएम, केंद्रीय विश्वविद्यालयों, सरकारी मेडिकल, इंजीनियरिंग या अध्यापक शिक्षा कालेजों आदि के मानदंडों की बराबरी करने का दावा आज भी कोई निजी संस्थान नहीं कर सकता। इसके बावजूद निजी संस्थानों की गुणवत्ता के दावे दोहराते रहना पीपीपी के अस्तित्व को न्यायोचित ठहराने के लिए जरूरी है।

3. पीपीपी में यह मान लिया गया है कि शिक्षा व्यवस्था में निजी साझेदारों की भूमिका बढ़ाने से शिक्षा के सामाजिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक उद्देश्यों में कोई फर्क नहीं पड़ेगा, केवल शिक्षण की बाजारोन्मुख गुणवत्ता में इजाफा होगा। लेकिन स्थिति इससे एकदम फर्क है। शिक्षा में निजी साझेदारों की भूमिका बढ़ाने से शिक्षा का मकसद वैश्विक बाजार के लिए कुशल लेकिन गुलाम कामगार – बायोटेक्नॉलॉजिस्ट व अर्थशास्त्री से लेकर वेल्डर व इलेक्ट्रीशियन तक – बनाना हो जाएगा, न कि एक लोकतांत्रिक, धर्मनिरपेक्ष व समतामूलक देश के लिए नागरिक और सामाजिक विकास व बदलाव के लिए बेहतर इंसान तैयार करना। वैसे इन दोनों मकसदों को इकट्ठे हासिल किया जा सकता है बशर्ते कि पीपीपी को खारिज करते हुए 'राज्य' अपनी जवाबदेही संवैधानिक सिद्धांतों के खाके में संभाले।

पीपीपी को मात देने की पूर्वशर्त होगी उपरोक्त भ्रांतियों को जनता के बीच उजागर करते हुए उन्हें ध्वस्त करना यानी जनमानस में इन भ्रांतियों को ध्वस्त करने पर पीपीपी की बुनियाद अपने–आप हिलने लगेगी!

———

'राज्य' और पूंजी के बदलते रिश्तों के आइने में पीपीपी

पीपीपी किन हालात में संभव हो पाई और क्यों? इस सवाल का उत्तर तलाशने के लिए हम आजादी के बाद के 60 सालों को मोटे तौरपर तीन खंडों में बांटेंगे –

- पहला काल (1947–1968) – 'राज्य'–समर्थित पूंजीवाद का वह चरण जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र निजी पूंजी पर हावी था। सन् 1945 के 'बांबे' या टाटा–बिड़ला प्लान के अनुसार भारतीय निजी पूंजी को विकसित होने के लिए 'राज्य' द्वारा प्रायोजित सार्वजनिक क्षेत्र की सख्त जरूरत थी यानी निजी पूंजी अपने निहित स्वार्थ के लिए पूरी तौरपर सार्वजनिक क्षेत्र पर निर्भर थी।
- दूसरा काल (1968–1991) – 'राज्य'–समर्थित पूंजीवाद का संकटकालीन दौर जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र और निजी पूंजी का आपसी संतुलन बदल रहा था चूंकि दोनों एक–दूसरे पर दबाव बना रहे थे। इसी कश्मकश का परिणाम था 'राज्य' द्वारा निजी बैंकों का राष्ट्रीयकरण और इस पर भी हालात पर नियंत्रण न होने पर सन् 1975 में आपात्काल को लागू करना।
- तीसरा काल (1991–2013) – 'राज्य'–समर्थित पूंजीवाद का नवउदारवादी दौर जिसमें 'घरेलू' (शायद अब इसे भारतीय कहना उचित नहीं होगा) निजी पूंजी वैश्विक पूंजी के मातहत होकर सार्वजनिक क्षेत्र पर पूरी तौरपर हावी हो चुकी है। यानी निजी पूंजी को आज भी अपने विकास के लिए 'राज्य' के समर्थन की सख्त जरूरत है – शायद पहले काल के मुकाबले और भी ज्यादा – लेकिन अब वह 'राज्य' को निर्देशित करने की स्थिति में है। एक और बात। यह 'घरेलू' निजी पूंजी पीपीपी का इस्तेमाल केवल अपने हितों के लिए ही नहीं, बल्कि वैश्विक पूंजी के हितों के लिए भी करती है। भारत के पूंजीपतियों द्वारा अमरीका–ब्रिटेन की उच्च शिक्षा के बजटीय संकट को हल करने के लिए केंद्रीय सरकार पर भारत की उच्च शिक्षा को बिकाऊ माल बनाने और उसके दरवाजे विदेशी शैक्षिक संस्थानों के लिए खोलने हेतु दबाव बनाना, इन बदले हुए रिश्तों का सबूत है।

इसी तीसरे काल में 'राज्य' और पूंजी के बदले हुए रिश्तों के कारण ही पीपीपी की नीति मुमकिन हो पाई है। जाहिर है कि पीपीपी के ही चलते 'घरेलू पूंजी' के जरिए वैश्विक पूंजी तमाम सार्वजनिक संसाधनों – धन, प्राकृतिक संसाधन (जल, जंगल, जमीन, खदानें, पेट्रोलियम आदि) एवं मानवीय ज्ञान व कौशल – पर कब्जा कर रही है ताकि वह नए बाजारों पर भी अपना नियंत्रण कायम कर सके। इसीलिए पीपीपी के खिलाफ लड़ाई अंततः नवउदारवाद के खिलाफ भी होगी।

सहयोग राशि – ₹ 20/-